UNIT - I

भारतेन्दु युग और द्विवेदी युग

(प्रमुख साहित्यकार और प्रमुख विशेषताएँ)

[पृष्ठ - 1 से 55]

हिन्दी साहित्य का आधुनिक काल

आधुनिक हिन्दी साहित्य में हम तीन इकाइयों पर विशेष रूप से चर्चा करेंगे। सर्वप्रथम इकाई के रूप में हम भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग और उनके समकालीन साहित्यकारों को लेंगे। फिर दूसरी इकाई में छायावाद और छायावादोत्तर साहित्यकारों को लेकर उनके समग्र साहित्यकारों पर सरसरी निगाह से अवलोकन करेंगे। तीसरी इकाई में नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध और जीवनी जैसे पाँच महत्वपूर्ण गद्य-विधाओं का विश्लेषण करेंगे। इन तीनों इकाइयों में पृष्ठभूमि पर विचार करने के उपरान्त हम उस कालखण्ड के कतिपय प्रमुख साहित्यकारों की कृतियों का मूल्यांकन करने की कोशिश करेंगे।

किसी भी साहित्य में 'आधुनिक काल' का समय निर्धारण करना या कारण सहित साबित करना एक जटिल प्रश्न है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 1900 संवत् से अर्थात् सन् 1843 ई० से हिन्दी साहित्य में आधुनिक युग माना है। कुछ लोग इसे सन् 1857 ई० के सिपाही विद्रोह से मानते हैं। एक क्रान्तिकारी परिवर्त्तन से नये युग का सूत्रपात माना जाता है। मध्यकालीन जड़ता को लाँघकर आधुनिक युग की जो गत्यात्मकता आई, उसमें समाज में बहुत बड़ा परिवर्त्तन पाया गया। साहित्य में छन्द, अलंकार, रूढ़िवादिता, श्रृंगारिकता आदि के पारम्परिक विचार की जगह साहित्य ने यथार्थ जन-जीवन को और बारीकी से देखा और मानवीय सुख-दुःख के साथ जुड़कर उसे अपना आधार बनाया।

मध्यकाल में पारलौकिक दृष्टि से मनुष्य आच्छन्न था कि अपने परिवेश की सुध नहीं थी उसे, पर आधुनिक युग में वह अपने पर्यावरण के प्रति अत्यन्त सजग हो गया। सुधार, परिष्कार और अतीत का पुराख्यान नवीन दृष्टिकोण की देन है। डा० बच्चन सिंह इसे इहलौकिक दृष्टिकोण मानते हैं। आधुनिक युग की ऐतिहासिक प्रक्रिया का ही परिणाम है कि साहित्य की भाषा ही बदल गई। ब्रजभाषा की जगह खड़ीबोली ने ले ली। पद्य सर्वस्व साहित्य को किनारा करके गद्य साहित्य ने प्रमुखता प्राप्त कर ली। इसी से शुक्लजी ने इस काल को गद्य काल भी कहा है। साहित्य में पहली बार वीर, भक्ति और श्रृंगार से इतर विषयों पर रचनाएँ होनेलगीं कविता के साथ साथ गद्य की नई विधाएँ हमारे सामने प्रकट होने लगीं।

निबन्ध, कहानी, नाटक, उपन्यास आदि से पहली बार हिन्दी पाठकों का साक्षात्कार हुआ। समकालीन सवालों से जुड़े नाटक खेले गये, जिनके रंगमंच पर पाश्चात्य परम्परा का प्रभाव साफ तौर पर दिखाई देता है। कविता की अन्तर्वस्तु, छन्द और भाषा में बदलाव आने लगा। यही नहीं, उस समय के प्रमुख बुद्धिजीवियों, समाज सुधारकों, लेखकों ने कई ऐसे प्रयत्न भी किये जिसके कारण उस दौर को रेनेंसा के दौर के रूप में जाना जाने लगा।

पृष्ठभूमि :

प्रत्येक युग के साहित्य का सम्बन्ध उस युग की परिस्थितियों से बहुत गहरा होता है। एकतरफ परिस्थितियाँ साहित्य-सृजन में सहायक होती हैं तो दूसरी तरफ साहित्य भी तत्कालीन परिस्थितियों को प्रभावित करता है। जबतक इस संश्लिष्टता को ध्यान में नहीं रखेंगे, तबतक आधुनिक हिन्दी साहित्य को अच्छी तरह हृदयंगम नहीं कर सकते

प्रेस की स्थापना

जिन क्षेत्रों को पहले से ही अंग्रेजों ने अख्तियार कर लिये थे, उनमें परिवर्तन का सूत्रपात हो गया था। इस संदर्भ में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का कहना है - "वस्तुतः साहित्य में आधुनिकता का वाहन प्रेस है और उसके प्रचार के सहायक हैं, यातायात के समुन्नत साधन। पुराने साहित्य से नये साहित्य का प्रधान अन्तर यह है कि पुराने साहित्यकार की पुस्तकें प्रचारित होने के अवसर कम पाती थीं। राजाओं की कृपा, विद्वानों की गुणग्राहिता, विद्यार्थियों के अध्ययन में उपयोगिता आदि अनेक बातें उनके प्रचार की सफलता का निर्धारण करती थीं। प्रेस हो जाने के बाद पुस्तकों के प्रचारित होने का कार्य सहज हो गया और फिर प्रेस के पहले गद्य की बहुत उपयोगिता नहीं थी। प्रेस होने से उसकी उपयोगिता बढ़ गई और विविध विषयों की जानकारी देनेवाली पुस्तकें प्रकाशित होने लगीं। वस्तुतः प्रेस ने साहित्य को प्रजातान्त्रिक रूप दिया। समाचार पत्र, उपन्यास, आधुनिक ढंग के निबन्ध और कहानियाँ सब प्रेस के प्रचार के बाद ही लिखी जाने लगीं। अब साहित्य के केन्द्र में कोई राजा या रईस नहीं रहा, बल्कि अपने घरों में बैठी हुई असंख्य अज्ञात जनता आ गई। इस प्रकार प्रेस ने साहित्य के प्रचार में, उसकी अभिवृद्धि में और उसकी नई नई शाखाओं के उत्पन्न करने में ही सहायता नहीं दी, बल्कि उसकी दृष्टि के समूल परिवर्तन में भी योग दिया।" (हिन्दी साहित्य: उद्भव और विकास, पृ 220)

द्विवेदी जी का मानना है कि इतिहास और पुरातत्व को शोध में, प्राचीन भारतीय साहित्य और धर्म के वैज्ञानिक अध्ययन में और नई-पुरानी भारतीय भाषाओं के वैज्ञानिक विवेचन में यूरोपियन पण्डितों ने बहुत ही महत्त्वपूर्ण काम किया।" (वही, पृ० 222)

नये उद्योग की स्थापना

सन् 1857 के असफल सिपाही विद्रोह से पहले ही भारत में आधुनिक उद्योगों की स्थापना होने लगी थी। ब्रिटेन के लिए कई जैसे कच्चे मालों की अबाध आपूर्ति को पूरा करने के निमित्त भारत में उन्नीसवीं सदी के मध्य में रेलवे की स्थापना की गई थी। इसी समय नील, चाय और कॉफी के क्षेत्र में कई उद्योग स्थापित हुए। सन् 1850-55 के दौरान सूती कपड़ों के कारखाने, जूट की मीलें और कोयला खानों की स्थापना हुई। सन् 1880 से 95 के बीच हालाँकि नये उद्योग कम लगे लेकिन इन उद्योगों का तीव्र गति से विकास हुआ। "अंग्रेजों के राजनीतिक प्रभुत्व के विकास के साथ साथ पुराने उद्योगों और भूमि-व्यवस्था पर आधारित पुराने वर्गों का विकास हुआ और नये भूमि सम्बन्धों और नये उद्योगों पर आधारित नये वर्गों का उदय हुआ। गाँवों के समुदाय तन्त्र (कम्यून) की जगह आधुनिक भूमिधर या जमींदार आविर्भूत हुए और जमीन पर उनकी निजी मिल्कियत कायम हुई। ब्रिटिश शासन-काल में स्थापित आधुनिक उद्योगों और आवागमन के साधनों के कारण नये वर्गों का जन्म हुआ, जैसे पूँजीवादी वर्ग, उद्योग धंधों और यातायत में लगे हुए मजदूर वर्ग, खेतीहर मजदूर, काश्तकार वर्ग या वणिक वर्ग जो आधुनिक देशी-विदेशी उद्योगों द्वारा उत्पादित पण्य वस्तुओं के क्रय-विक्रय में लगा था। भारत पर ब्रिटिश प्रभाव के कारण न केवल भारत की आर्थिक बल्कि सामाजिक संरचना का भी रूपान्तरण हुआ।" (भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, पृ० 27 - ए. आर. देसाई) आधुनिक काल को हम भारत में अंग्रेजों के शासन से उत्पन्न स्थितियों के संदर्भ में देख सकते हैं। इसी ने उस संघर्ष को जन्म दिया जिसे हम राष्ट्रीय आन्दोलन के नाम से जानते हैं और उस साहित्य को भी जो राष्ट्रीय भावनाओं को व्यक्त करनेवाला साहित्य कहा जा सकता है।

आधुनिक शिक्षा और बौद्धिक वर्ग

ब्रिटिश सरकार ने अपनी राजनीतिक, आर्थिक और प्रशासनिक जरूरतों के चलते आधुनिक शिक्षा का प्रसार किया। इस शिक्षा के प्रभाव के बारे में ए. आर. देसाई लिखते हैं, "भारतीय राष्ट्रवाद ने उन्नीसवीं

सदी के उत्तरार्द्ध में एक राष्ट्रीय आन्दोलन का रूप लिया। उस वक्त तक देश में शिक्षित वर्ग तैयार हो गया था और भारतीय उद्योगों के उदय के साथ ही भारतीय औद्योगिक बुर्जुआ का भी जन्म हो चुका था। इन्हीं वर्गों ने राष्ट्रीय आन्दोलन का संगठन किया और अपनी विरोधी पताका में निम्नांकित नारे लिखे - सरकारी नौकरियों का भारतीयकरण, भारतीय उद्योगों के लिए सुरक्षा, वित्तीय स्वायत्तता आदि। आर्थिक एवं अन्य क्षेत्रों में ब्रिटिश और भारतीय हितों के संघर्ष के कारण यह आन्दोलन शुरू हुआ।" (वही, पृ० 127) इस आधुनिक शिक्षा ने उस बुद्धिजीवी वर्ग को पैदा किया जिसने राष्ट्रीय और समाज सुधार आन्दोलन में न केवल महत्वपूर्ण भूमिका निभायी बल्कि उसका नेतृत्व भी किया। इस बुद्धिजीवी वर्ग ने अपने विचारों को लोगों तक पहुँचाने के लिए कई तरीकों का इस्तेमाल किया। उन्होंने कई राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक संगठन बनाये, समाचार पत्र और पत्रिकाओं का प्रकाशन किया और उनके जरिए लोगों में नई चेतना और नए विचारों का प्रचार प्रसार किया

उन्नीसवीं सदी में जो नया समाज बन रहा था, उसकी जरूरतें वही नहीं थीं, जो उससे पहले के समाज की थीं। इन नई आवश्यकताओं की पहचान उस नए बौद्धिक वर्ग ने की जो उस दौर में उभर रहा था। उसने समाज में जो पुरानी रूढ़ियों, मान्यताओं और आचरणों को समाप्त करने के लिए अथक प्रयास किया। समाज-सुधार के बारे में प्रबुद्ध वर्ग का दृष्टिकोण उदार, विवेकशील और लोकतान्त्रिक भावनाओं पर आधारित था। स्त्री की हीन-दशा से जुड़ी प्रथाओं को समाप्त कराने का संघर्ष किया जिसमें सती प्रथा, बाल-विवाह, बहु विवाह, बालिका वध आदि शामिल हैं।

ब्रिटिश राज-सत्ता से असन्तोष

सिपाही विद्रोह की असफलता से सामन्ती शासन की पुनः स्थापना का विकल्प सदा के लिए खत्म हो गया था। इसी दौर में परिस्थितियाँ बदल रही थीं, जिसने राजनीतिक उभार को जन्म दिया। परिणामतः सन् 1885 ई० में काँग्रेस की स्थापना हुई। इधर किसानों की स्थिति लगातार विपन्न हो रही थी। हस्तशिल्प और कारीगर उद्योग खत्म हो गये थे, भारतीय प्रेस की स्वतन्त्रता

पर रोक लगा दी गई थी। कुल मिलाकर राष्ट्र के कई क्षेत्रों से असन्तोष बढ़ता नजर आ रहा था, जिसका प्रभाव तत्कालीन बुद्धिजीवी वर्ग पर पड़ा और हिन्दी लेखन में भी उसकी छवि दिखने लगी।

समाज सुधार

इस दौर के लेखक समाज में नारी की और दलितों की दशा को देश के साथ जोड़कर देखते हैं। तभी इनके सुधार को देश के विकास की दृष्टि से महत्व देते हैं। विधवा विवाह का प्रचलन हो-चाहे बाल-विवाह का विरोध, जाति-पाँति का भेद हटाने की बात हो या विदेश-यात्रा पर रोक, इन सभी नाइन्साफी के खिलाफ इसी समय महिम छेड़ दी गई। विधवा विवाह के प्रचलन से विधवाओं पर हुए मानसिक एवं सामाजिक निर्यातना घटने लगी। समाज सुधार ना केवल सामाजिक समस्या का समाधान चाहता था, बल्कि सारे देश के विकास केलिए अभिप्रेत था। समाज सुधारक सामाजिक संरचना में निहित दोष-त्रुटियों के निराकरण में लग गये ताकि समाज संकीर्णता से परे रहकर देश के विकास में कोई बाधा न रहे।

नारी शिक्षा का अभियान

उन्नीसवीं सदी में शिक्षा के विस्तार हेतु, समाज सेवियों ने जितना योगदान दिया, साहित्यकारों, संवादिकों और बुद्धिजीवियों ने भी उसमें उतना ही हाथ बटाया है। राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आदि ने शिक्षा के प्रसार पर अधिक बल दिया। भारतेन्दु स्त्री शिक्षा के समर्थक थे और चाहते थे कि उनके लिए अलग से स्कूल खोले जायें। हिन्दी का पहला पत्र 'उदण्ड मार्तण्ड' से लेकर श्रद्धाराम फिल्लौरी कृत 'भाग्यवती' एवं भारतेन्दु की संस्कारमूलक रचनाएँ नारी-शिक्षा के प्रसार में सफल सिद्ध हुईं।

आधुनिक नव जागरण

राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक स्थितियों और सम्बन्धों के बदलाव के कारण भारतीय जीवन में एक नया अस्मिताबोध स्फुरित हुआ। पश्चिमी शिक्षा, ज्ञान-विज्ञान, औद्योगिकता के सम्पर्क के कारण भारतीयों में आत्मनिरीक्षण तथा आत्मपरिष्कार की

चेतना अनिवार्यतः उद्बुद्ध हुई। उनके समक्ष अनेक सवाल एक साथ कौंधने लगे। क्या ईसाई धर्म के आगे भारतीय धर्म की कोई अहमियत नहीं है? क्या अंग्रेजी रीति-रिवाजों के आगे भारतीय सामाजिक रीतियाँ तथा प्रथाएँ तुच्छ हैं? क्या पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान, भाषा आदि के सामने भारतीय ज्ञान-विज्ञान तथा भाषाओं की कोई भी महत्ता नहीं है? क्या हम इतने अशक्त एवं निर्वीर्य हैं कि सात समुद्र पार एक विजातीय हमें गुलाम बनाए रखे? इन विविध सवालों का जवाब वह ठण्डे दिल से, किन्तु बेचैनी से सोचने के लिए विवश था। अपनी खोई हुई शक्ति को प्राप्त करने के लिए उसने युगों से प्रचलित प्रथाओं तथा कुरीतियों को बड़ी बेरहमी से नष्ट करने का बीड़ा उठाया। उपयोगी तथा मूल्यवान परम्पराओं को आधुनिक जीवन की आवश्यकताओं के अनुकूल बुद्धि सम्मत व्याख्या करके उनकी अर्थवत्ता तथा प्रासंगिकता को विदेशी रीति-रिवाजों के समक्ष सिद्ध करने के यत्न किये गये। नव जागरण लाने में अधोलिखित संस्थाओं एवं तत्सम्बन्ध संस्थाओं व्यक्तियों का सराहनीय योगदान रहा -

(i) ब्रह्म समाज

राजा राममोहन राय द्वारा ब्रह्म समाज की स्थापना सन् 1828 ई में हुई। राय साहब विदेशी, भारतीय विचारों तथा चिन्तन से पूर्णतया परिचित थे। आधुनिक भारत के ये प्रथम व्यक्ति हैं जिन्होंने आडम्बरों, अन्धविश्वासों, पाखण्डों का खण्डन करके विशुद्ध ब्रह्मोपासना के महत्व को प्रतिपादित किया। सती प्रथा जैसी क्रूर प्रथा के खिलाफ जेहाद छेड़नेवाले राजा राममोहन राय ही थे। उन्होंने अपनी उदार दृष्टि के कारण पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली के प्रचार-प्रसार में योगदान किया। ब्रह्मसमाज को गतिशील बनानेवाले महानुभावों में देवेन्द्रनाथ टैगोर और केशवचन्द्र सेन के नाम उल्लेखनीय हैं।

(ii) प्रार्थना समाज

महाराष्ट्र के प्रगतिशील चिन्तक महादेव गोविन्द रानाडे ने सन् 1837 ई में इसकी स्थापना की थी। अतीत के प्रति आदर भाव से युक्त होते हुए भी रानाडे अतीत की यथास्थिति के कायल

नहीं थे। किसी जीवित समाज में अतीत की मान्यताओं को यथावत् स्थापित नहीं किया जा सकता। उनकी दृष्टि समाजोन्नयन के प्रति विशेष रूप से थी। जाति-पाँति की निरर्थकता सिद्ध करते हुए उन्होंने सामाजिक समता, स्त्री शिक्षा तथा अन्तर्जातीय विवाह का समर्थन किया।

(iii) रामकृष्ण मिशन

विवेकानन्द ने मूलत: अपने गुरु रामकृष्ण के उपदेशों के प्रचार के लिए रामकृष्ण मिशन की स्थापना की थी। लेकिन विवेकानन्द के समाजोन्मुख धर्म से भारतीय दर्शन को नई दिशा मिली। उनकी दृष्टि में धर्म वह है जो शारीरिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक शक्ति दे, जो आत्मसम्मान तथा राष्ट्रीय गौरव प्रदान करने में सहायता करे। वे अपने देशवासियों को कर्मयोग में दीक्षित करना चाहते थे। सन् 1893 को शिकागो में सम्पन्न हुए विश्व धर्म संसद में भारतीय धर्म की महत्ता को उद्घोषित करके भारतीयों के मन में पुन: इस विश्वास को जगा दिया कि अब भी हमारे पास ज्ञान की वह थाती है जिसकी आवश्यकता आज समग्र विश्व को है।

(iv) आर्य समाज

सन् 1837 ई० में आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती उच्च कोटि के संस्कृतज्ञ, कुशल वक्ता तथा असाधारण प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति थे। वैदिक धर्म की समग्रता एवं सार्वभौमिकता को प्रतिपादित करते हुए उन्होंने जातीय, लैंगिक आदि भेदों को मिटाने का प्रयास किया। समाज के सम्यक विकास के लिए उन्होंने पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान की महत्ता को भी स्वीकार किया। उन्हीं के प्रयास से ऐंग्लोवेदिक स्कूल खोले गये। आपके विचारों की लहर ने उत्तर भारत को विशेष रूप से परिष्कृत किया।

(v) थियोसोफिकल सोसाइटी

इसकी स्थापना सन् 1875 ई० में न्यूयार्क में मदाम ब्लावत्स्की और कर्नल ओल्काट के द्वारा की गई थी। भारत में

इसका विशेष प्रचार श्रीमती ऐनी बेसान्त द्वारा सन् 1893 के बाद हुआ। ऐनी बेसान्त ने प्राचीन भारतीय धर्म का गुणगान करते हुए राष्ट्रीयता की भावना को पुष्ट किया।

(vi) अभिनव राजनीतिक जागृति

विविध क्षेत्रों में जागृति आने के बाद भारतीयों को दासता खटकने लगी। राजनीतिक जागृति के कारण ही सन् 1885 ई० में इंडियन नेशनल कॉंग्रेस की स्थापना हुई। एक हजार साल के मुस्लिम शासकों के अत्याचार से सन्त्रस्त भारतीय अंग्रेज शासन में मुस्लिमों के बराबर अधिकार प्राप्त कर अंग्रेजों के प्रति कृतज्ञ हुए। उनमें आत्मसम्मान जाग उठा। यही कारण है कि भारतेन्दु जैसे कई साहित्यकार अंग्रेजों की तारीफ करने लगे। लेकिन जल्दी ही अंग्रेजों की शोषण-नीति का परिचय मिल गया। परिणामतः राजनीतिक मुक्ति की ओर भारतीयों की दृष्टि उन्मुख हुई। राजनीतिक आन्दोलन के सूत्रधार महात्मा गाँधी परतन्त्रता के ही नहीं, बल्कि सामाजिक रूढ़ियों, असमानता के विरुद्ध भी संघर्षरत थे। उनके द्वारा चलाये गये सत्याग्रह आन्दोलन का भी भारतीय जनमानस पर व्यापक प्रभाव पड़ा। अन्तर्राष्ट्रीय सीमाओं में घटित रूस-जापान युद्ध (सन् 1904) तथा दो विश्वयुद्धों (सन् 1914-18 और 1939-45) का भारतीय राजनीतिक संघर्ष पर प्रेरणादायक असर हुआ। लोगों में अन्तर्राष्ट्रीय सोच पैदा हुई जिसका स्पष्ट प्रतिबिम्ब हिन्दी साहित्य में दिखाई देता है।

भारत में औद्योगीकरण की प्रक्रिया क्रमशः तेज होती जा रही थी। नव जागरण में अतीत गौरव की प्रेरणा से वर्तमान सामाजिक उत्थान का महत्व बढ़ता जा रहा था। पश्चिमी साहित्य के सम्पर्क तथा समष्टिगत चेतना के विस्तृत परिदृश्य में वैयक्तिक स्वच्छन्दता तथा स्वतन्त्रता का भाव उभरने लगा। गाँधीजी के असहयोग आन्दोलन की असफलता तथा स्वतन्त्रता की आशा क्षीण होने के कारण स्वतन्त्रता के समस्त भाव अन्तर्मुखी हो गये।

चिन्तन तथा अभिव्यक्ति दोनों स्तरों पर सौन्दर्यवादी साहित्यकारों में व्यक्ति का केवल सुन्दर पक्ष ही उभर पाया। चौथे दशक के बाद व्यक्ति को उसकी समग्रता से ग्रहण करने की चेष्टा की गई। शुभ-अशुभ, आदर्श-यथार्थ, महान-तुच्छ आदि भेदभाव को छोड़कर 'आम आदमी' साहित्य में प्रतिष्ठित होने लगा। नये नये वैज्ञानिक आविष्कारों, विश्व के राष्ट्रों से पारस्परिक सम्बन्धों, अस्तित्ववादी दर्शन की धूम, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र आदि अन्य

सामाजिक विज्ञानों के प्रति बढ़ती रुचि, विविध देशों के सांस्कृतिक आदर्शों तथा मूल्यों की टकराहट, जीवन के प्रति इहलौकिक दृष्टिकोण की प्रधानता और बौद्धिक चिन्तन के दबाव से पारम्परिक मानवीय मूल्य तथा मानवीय सम्बन्ध टूटते जा रहे हैं। साहित्य रचनात्मक स्तर पर मनुष्य के नवीन संवेदनों से जूझ रहा है।

आधुनिक ज्ञान-विज्ञान और टेक्नोलाजी के फलस्वरूप उत्पन्न मानवीय स्थितियों का नया, गैर रोमैण्टिक और अमिथकीय साक्षात्कार आधुनिकता है। आधुनिकता का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए आवश्यक है कि उसके ऐतिहासिक संदर्भ और प्रवृत्ति को समझ लिया जाय। आधुनिक काल अपने ज्ञान-विज्ञान और प्रविधियों के कारण मध्यकाल से अलग हुआ। यह काल औद्योगीकरण, नगरीकरण और बौद्धिकता से सम्बद्ध है; जिससे नवीन आशाएँ उभरीं और भविष्य का नया स्वप्न देखा जाने लगा। देश, धर्म, राष्ट्र, ईश्वर आदि की नई नई व्याख्याएँ की जाने लगीं।

एक समय तक इहलौकिक होकर यह आधुनिक प्रगतिशील बनी रही। प्रत्येक देश में पुनर्जागरण आया, बहुत से परतन्त्र देश स्वतन्त्र हुए। औद्योगीकरण और प्रविधिकरण के सहारे जो सपने संजोये थे वे साकार नहीं हुए। लोकतन्त्र और साम्यवादी सरकारें समान रूप से निराशाजनक सिद्ध हुईं। व्यक्ति या तो ~~स्वयं~~ व्यवस्था का पुर्जा हो गया या प्रविधि का। उसका अपना व्यक्तित्व और पहचान खो गई। इस खोये हुए व्यक्तित्व की खोज-प्रक्रिया का नाम ही 'आधुनिकता' है।

आधुनिक ज्ञान-विज्ञान ने मनुष्य को बहुत कुछ बुद्धिसम्मत बना दिया था। नीत्शे की घोषणा 'ईश्वर मर गया' से बौद्धिक-जगत में क्रान्तिकारी परिवर्तन आया। यथार्थ का स्वरूप ही बदल गया। पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म, अच्छे-बुरे की जो कसौटियाँ धर्मग्रंथों में निर्धारित की गई थीं, उनकी प्रामाणिकता समाप्त हो गई, पुराने मूल्य विघटित हो गये। अस्तित्ववादी दर्शन ने अपने पूर्ववर्ती दर्शन और विज्ञान की अमूर्तता पर आक्रमण किया। सार्त्र और किर्केगार्ड ने अपने अनुभवों को प्रत्येक व्यक्ति की व्यग्रता, दुःख, निराशा, अकेलापन, मृत्युबोध, स्वतन्त्रता, त्रास आदि के साथ जोड़ा। साथ ही सामूहिकतावाद और निश्चयवाद के विरुद्ध आ खड़े हुए

प्रगतिशील आलोचक रामविलास शर्मा दरबारी संस्कृति और नवचेतना के संघर्ष को निरूपित करते हुए भारतेन्दु युगीन कविता के वैचित्र्य की ओर संकेत करते हैं। 'भारतेन्दु युग के काव्य साहित्य को पढ़ने से एक विचित्र कोलाहल-सा अनुभव होता है। विभिन्न धाराओं के एक साथ मिलने से पाठक को आकाशभेदी कलकल ध्वनि सुनाई देती है। कुछ लोग नायक-नायिकाओं के नख-शिख वर्णन में लगे हैं तो दूसरे प्रतिभा समस्यापूर्ति में चमत्कार दिखा रहे हैं। अन्य कवि महामारी, अकाल, ऐक्स पर लोकगीत रच रहे हैं और कुछ लोग कविता में गद्य की भाषा का भी प्रयोग कर रहे हैं।'

भारतेन्दु युग (पुनर्जागरण काल)

भारतेन्दु युग अथवा पुनर्जागरण काल का उदय हिन्दी कविता के लिए नवीन जागरण के संदेश वाहक युग के रूप में हुआ था, जिसका समय लगभग सन् 1850 से 1900 ई० तक माना जाता है। वस्तुतः इतिहास का कोई भी काल सहसा समाप्त नहीं हो जाता और प्रायः अगले एक-दो दशक तक उसकी रचना-प्रवृत्तियाँ किसी-न-किसी रूप में व्यक्त होती रहती हैं। इसी भाँति किसी नये युग का समारम्भ भी सहसा नहीं होता, उसके स्वरूप-निर्माण की प्रक्रिया के बीज दस-बीस वर्ष पहले तक के साहित्य में विद्यमान रहते हैं।

भारतेन्दु पूर्व काव्यधारा का जहाँ तक प्रश्न है, इन्हें कुल-मिलाकर तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है - भक्ति काव्य, श्रृंगार काव्य और रीति काव्य। इन सबकी भाषा ब्रजभाषा थी। ये तीनों प्रकार की काव्य परम्परा हिन्दी साहित्य को बहुत बड़ी उपलब्धि थी। एक तरफ ब्रजभाषा को इन्होंने शिखर तक पहुँचा दिया था तो दूसरी ~~ओर~~ तरफ एक समुन्नत अलंकार शास्त्र हिन्दी साहित्य को दिया। शब्द-क्रीड़ा और कारिगरी में इन्हें सर्वाधिक सफलता मिली थी। साथ ही सौन्दर्य एवं श्रृंगार वर्णन में इस युग के कवियों ने अपनी प्रचण्ड प्रतिभा का परिचय दिया था।

भारतेन्दु युग में जन-चेतना पुनर्जागरण की भावना से अनुप्राणित थी; फल स्वरूप सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक क्षेत्रों में न केवल अतिरिक्त सक्रियता थी, अपितु इन सबमें गहन अन्तः सम्बन्ध विद्यमान था। भारतेन्दु युगीन कवि-कर्तृत्व पर इसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। इसकी परिणति विषय-चयन में आपकरा और विविधता के रूप में हुई। श्रृंगारिक रसिकता, अलंकरण-मोह, रीति निरूपण, प्रकृति का उद्दीपनात्मक चित्रण आदि रीतिकालीन प्रवृत्तियों का महत्त्व क्रमशः कम होता गया और भक्ति और नीति को प्रमुख वर्ण्य विषयों ~~में~~ के रूप में ग्रहण करने का आग्रह भी नहीं रह गया। भारतेन्दु ने जनता को उद्बोधन प्रदान करने के उद्देश्य से 'जातीय संगीत' अर्थात् लोकगीत की शैली पर सामाजिक कविताओं की रचनाओं पर बल दिया। मातृभूमि-प्रेम, स्वदेशी वस्तुओं का व्यवहार, गोरक्षा, बाल-विवाह निषेध, शिक्षा-प्रसार का महत्त्व, मद्य-निषेध, भ्रूण-हत्या की निन्दा आदि विषयों को कविगण अधिकाधिक अपनाने लगे थे।

राष्ट्रीय भावना का उदय भी इस काल की अनन्य विशेषता है। ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज, रामकृष्ण परमहंस और विवेकानन्द के विचारों तथा थियोसोफिकल सोसाइटी के सिद्धान्तों का प्रभाव भी जन-जीवन पर पड़ रहा था। आर्थिक, औद्योगिक और धार्मिक क्षेत्रों में पुनर्जागरण की प्रक्रिया आरम्भ होने लगी थी। पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली ने शैक्षिक क्षेत्र में भी वैयक्तिक स्वतन्त्रता की प्रेरणा प्रदान की। अंग्रेजी का प्रचार-प्रसार यद्यपि जनता से सम्पर्क-साधन और प्रशासकीय आवश्यकताओं के लिए किया जा रहा था, पर अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन ने अन्य देशों के साथ तुलना का अवसर भी प्रदान किया और इस तरह राष्ट्रीय भावना के विकास के लिए उचित वातावरण बन सका। मुद्रण यन्त्र के विस्तार और समाचार पत्रों के प्रकाशन ने भी जन-जागरण में योग दिया।①

भारतेन्दु युगीन काव्यधारा पर सामग्रिक रूप से विचार करें तो इस युग के कवियों का काव्य-फलक अत्यन्त विस्तृत है। इनकी काव्य-प्रवृत्तियाँ जहाँ एक तरफ भक्ति और रीति युग से प्रभावित हैं, वहाँ दूसरी तरफ समकालीन परिवेश और प्रवृत्तियों के प्रति ईमानदार भी हैं। राष्ट्रीयता की भावना के साथ सामाजिक चेतना, भक्ति भावना, शृंगारिकता, प्रकृति-चित्रण, हास्य-व्यंग्य, रीति निरूपण, समस्यापूर्ति आदि विविध विषयों का चित्रण कर इस युग के कवियों ने कविता को जन जन तक पहुँचा दिया।

राष्ट्रीय भावना

भारतीय वीरों में महाराणा प्रताप, शिवाजी और छत्रसाल के वीरत्व का बखान करनेवाले भूषण आदि क्षेत्रीयता से ऊपर नहीं उठ पाये। लेकिन भारतेन्दु युगीन कवियों ने भारतीय इतिहास का स्मरण ही नहीं दिलाया, बल्कि क्षेत्रीयता से ऊपर उठकर सम्पूर्ण राष्ट्र के हित की बात की। राधाचरण गोस्वामी कृत 'हमारो उत्तम भारत देस'; प्रेमघन की 'धन्यभूमि भारत सब रतनन की उपजावनि' जैसी रचनाएँ इसके उदाहरण हैं। देश के उत्कर्ष-अपकर्ष के लिए उत्तरदायी परिस्थितियों पर प्रकाश डालकर इस युग के कवियों ने जन-मानस में राष्ट्रीय भावना के बीज-वपन का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। आगे चलकर मैथिलीशरण के राष्ट्रीय काव्य 'भारत-भारती' के मूल में भारतेन्दु, प्रेमघन, प्रताप नारायण मिश्र, राधाकृष्ण दास आदि की परम्परा महत्त्वपूर्ण रही है। भारतेन्दु युगीन राष्ट्रीय चिन्तन धारा के दो पक्ष हैं - एक तरफ जहाँ कवियों ने हिन्दी, हिन्दू और हिन्दुस्तान का गुणगान

---

① डॉ सुरेश-चन्द्र गुप्त (हिन्दी साहित्य का इतिहास - सं- डॉ नगेन्द्र)

किया, दूसरी तरफ ज़जिया जैसा कर न लगानेवाले अंग्रेज प्रशासन की प्रशस्ति की। प्रजा मात्र की सुख-सुविधाओं का ध्यान रखनेवाले अंग्रेज शासकों के प्रति सहयोग रुख अपनाने की बात करके नवीन राजनीतिक चेतना को वाणी दी। भारतेन्दु की राजभक्ति परक रचनाओं में भारत-भिक्षा, विजयवल्लरी, रिपनाष्टक और 'प्रेमघन की हार्दिक हर्षादर्श', 'स्वागत' आदि ऐसी ही रचनाएँ हैं। ड्यूक आफ एडिनबरा के स्वागत, रानी विक्टोरिया के शासन-काल की प्रशंसा, उनकी मृत्यु पर शोक-संवेदना, लार्ड रिपन के प्रति श्रद्धांजलि आदि विषयों पर रचित कविताओं को राष्ट्रद्रोही नहीं मानना चाहिए।

सामाजिक सचेतनता

भारतेन्दु युग की प्रमुख विशेषता है कि कवियों ने सामाजिक जीवन की उपेक्षा न कर जनता की समस्याओं के निरूपण की ओर पहली बार व्यापक रूप में ध्यान दिया। इस युग की नारी-शिक्षा, विधवाओं की दुर्दशा, अस्पृश्यता आदि को लेकर जो सहानुभूतिपूर्ण कविताएँ रची गईं, उनके प्रतिपाद्य को नवीनता ने सहृदय समुदाय को विशेष रूप से आकृष्ट किया। इन समस्याओं को रूपायित करनेकेलिए कवियों ने एक ओर मध्यवर्गीय सामाजिक परिस्थितियों का चित्रण किया तो दूसरी ओर रूढ़ियों का विरोध करते हुए विकास-चेतना की आकांक्षा को भी अभिव्यक्ति दी। लेकिन, आर्य समाज, ब्रह्म समाज आदि के प्रभाव से इस युग में नवीन सामाजिक चेतना उभरने लगी थी और भारतेन्दु, प्रेमघन, प्रताप नारायण मिश्र आदि की कविताओं में जिस सुधारवादी मनोवृत्ति की प्रमुखता रही, उसके प्रति सभी कवियों का दृष्टिकोण उदार नहीं था। कतिपय कवि अब भी दकियानुसी विचारों के समर्थक थे। इसके विपरीत भारतेन्दु जैसे कवियों ने सुधारवादी दृष्टिकोण अपना कर रूढ़ियों का डटकर विरोध किया।

भारतीय अर्थ-व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने की दृष्टि से इस युग के कवियों ने स्वदेशी उद्योगों को प्रोत्साहन देने और स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग करने पर भी बल दिया। बिजली, यातायात के सुगम साधनों, सिंचाई की सुविधाओं, शिक्षा-प्रसार आदि अलभ्य लाभ प्रदान करनेकेलिए ब्रिटिश शासन की प्रशंसा की है, पर आम जनता और कृषकों की बढ़ती दरिद्रता को देखते हुए शासक वर्ग द्वारा देश के आर्थिक शोषण का विरोध किया।

भक्ति भावना

भारतेन्दु युग में न तो पारम्परिक भक्ति-भावना ही रही और न ही उस पर ज्यादा जोर देने की प्रवृत्ति। अतः अनुकरणात्मक ढंग से कुछ कवियों ने सगुण भक्ति में से राम और कृष्ण-लीलाओं को ही दुहराया। एक नई चीज जो इस क्षेत्र में दिखाई देती है, वह है ईश्वर भक्ति के साथ देश भक्ति को मिलाकर अभिव्यक्ति देना। पाठकों के मन में ईश्वर की भाँति देश के प्रति सम्मान पैदा करना इन कवियों का प्रमुख ध्येय रहा है। राम-कथा से अधिक कृष्ण-कथा सम्बन्धी रचनाएँ अधिक पायी गयीं। स्वयं भारतेन्दु कृष्ण-भक्ति से लल्लुक रखते थे। पुष्टिमार्गी होते हुए भी उनकी भक्तिकालीन तन्मयता का सर्वथा अभाव है। लेकिन इस युग की सबसे बड़ी विशेषता है देश भक्ति। जहाँ इस युग के कवियों ने साम्प्रदायिक संकीर्णता से ऊपर उठकर धार्मिक सहिष्णुता एवं समन्वय भावना का परिचय दिया है, वहाँ जन जन के मन में देशप्रेम की भावना भरने में सफलता हासिल की। भारतेन्दु के साथ ही प्रेमघन, प्रतापनारायण मिश्र, राधाकृष्ण दास आदि कवियों ने धार्मिक उदारता एवं राष्ट्रभक्ति के ढेर सारे उदाहरण प्रस्तुत किये। ईश्वर-भक्ति एवं देशभक्ति के ऐसे अनूठे उदाहरण इससे पहले कभी देखने में नहीं आया।

शृंगार वर्णन एवं प्रकृति चित्रण

भारतेन्दुकालीन कवियों ने एक ओर कृष्ण-काव्य परम्परा में से माधुर्य भक्ति परक शृंगार वर्णन का प्रभाव ग्रहण किया है तो दूसरी ओर रीतिकालीन सौन्दर्य वर्णन, नायिका-भेद, नखशिख आदि से प्रभावित हुए। साथ ही उर्दू के जरिए जहाँ अरबी-फारसी की प्रेम की पीड़ा का प्रभाव लिया वहाँ अंग्रेजी के प्रणय-काव्य से भी प्रभावित हुए। सिवाय प्रताप नारायण मिश्र के इस युग के लगभग सभी कवियों में शृंगारिक वर्णन पाये जाते हैं।

प्रसंगवश प्रकृति-वर्णन करना कवि मात्र का ध्येय है। लेकिन इस युग के कवि अधिकांशतः रीतियुगीन परम्परा से प्रभावित प्रतीत होते हैं। कारण वसन्त और वर्षा-वर्णन का आधिक्य है और ज्यादातर प्रणय-वर्णन में आलम्बन और उद्दीपन के रूप में प्रकृति का

प्रयोग किया है। ऋतु-सौन्दर्य के स्थान पर कवियों ने ऋतु-विशेष में नायक-नायिका की मनोदशाओं के वर्णन में अधिक रुचि ली है। ठाकुर जगमोहन सिंह का प्रकृति-चित्रण कुछ हद तक शुद्ध सौन्दर्यबोध पर आधारित है। वरना भारतेन्दु, प्रेमघन, प्रताप नारायण मिश्र आदि अधिकांश कवि रीतिकालीन परम्परा से प्रभावित प्रतीत होते हैं।

हास्य-व्यंग्यात्मक शैली

भारतेन्दुकालीन रचनाओं की एक और विशेषता है, उनकी हास्य-व्यंग्यात्मक शैली। एकतरफ अधिक से अधिक पाठकों को आकृष्ट कर अपना संदेश उनतक पहुँचाना उनका उद्देश्य है तो दूसरी तरफ सामाजिक व प्रशासनिक विसंगतियों पर वार करना भी उनका लक्ष्य रहा है। पश्चिमी सभ्यता, विदेशी शासन, सामाजिक अन्ध विश्वासों, रूढ़ियों आदि पर व्यंग्य करनेकेलिए कवियों ने विषय और शैली की दृष्टि से अनेक नये प्रयोग किये। इस दिशा में भारतेन्दु का पर्याप्त योगदान रहा है। साथ ही प्रेमघन, प्रताप नारायण मिश्र आदि की भूमिका भी कम नहीं है। विशेष कर अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त नवयुवकों का भारतीय आदर्श, रीति-नीति को भूलकर पश्चिमी सभ्यता के अन्धानुकरण पर इन कवियों ने व्यंग्य-बाण बरसाये।

रीति परम्परा का प्रभाव

भारतेन्दु काल में रीतिकालीन काव्य परम्परा के अनुकरण पर अनेक कविताएँ रची गईं। नायिका-भेद तथा नख-शिख से सम्बद्ध अलंकृत कविताओं का सृजन अनेक कवियों ने किया। इन कविताओं में मुख्यतया शृंगार को अभिव्यक्त किया गया है। संयोग-चित्रण में षटऋतु और वियोग चित्रण में बारहमासा की पुरानी पद्धति को अपनाकर अधिकांशतः कवित्त, सवैया, छन्दों का व्यवहार किया गया है। इस युग में काव्य की आत्मा 'रस' को माना गया है। अन्य रस तथा भावों की अपेक्षा शृंगार रस का विशेष महत्व था। अलंकारों का प्रयोग करते समय अधिकांशतः कविता को दुरूह तथा बोझिल नहीं बनाया गया। रीतिकालीन सामन्ती मनोवृत्ति अभी पूरी तरह से समाप्त नहीं हुई थी। राजाओं और नवाबों की शान-शौकत का स्वरूप बहुत कुछ पुराना ही था। राग-रंग, शराब-सुन्दरियों का सेवन तथा वेश्याओं के

नृत्य से मनोरंजन की चाह अब भी पूर्ववत् बनी हुई थी। इसीलिए काम-क्रीड़ा, छेड़छाड़, रति-केलि, चुम्बन, विपरीत रति इत्यादि को चित्रित करने-वाली कविता के प्रति आकर्षित होना स्वाभाविक था। कविता में स्वच्छन्दता पहले से अधिक है। शृंगार काव्य के आलम्बन साधारण नायक-नायिका तथा राधाकृष्ण दोनों हैं। भारतेन्दु युग में लक्षण-ग्रंथों का आश्रय प्रायः कम ही लिया गया है।

भारतेन्दु युगीन कविताओं में चमत्कार तथा उद्दामकता भी दृष्टिगत होती है। परिपाटीबद्धता की अपेक्षा प्रेम की स्वच्छन्दता के चित्र अधिक हैं। इन रचनाओं में प्रेमभाव का मार्मिक उन्मेष कल्पना एवं अनुभूति का प्रतिफल है। इनमें आडम्बर, कृत्रिमता तथा चमत्कार का आग्रह नहीं है। ठाकुर जगमोहन सिंह की नायिका लोकलाज तथा निन्दा की परवाह किये बिना प्रेम का निर्वाह करती है। श्रीधर पाठक 'एकान्तवासी योगी' कविता में प्रेम की नवीन स्वच्छन्दतावादी परम्परा का निर्वाह करते हैं। इसमें प्रेमी की मर्मस्पर्शी जीवन-कथा अंकित हुई है। भारतेन्दु मण्डल के कवियों में प्राचीन और नवीन दोनों का सम्मिश्रण हुआ है। किन्तु इस युग में कुछ ऐसी भी कवि हैं जिनका सम्बन्ध विशुद्ध रीति परम्परा से है। सेवक, सरदार, लछिराम, बेनीबंदीजन और हनुमान रीति परम्परा के दरबारी कवियों की कोटि में हैं। इन कवियों ने अपने आश्रयदाताओं के प्रीत्यर्थ लक्षण ग्रंथों या शृंगार काव्यों का सृजन किया है।

भारतेन्दु कालीन प्रेम शृंगार के चित्रण में छेड़छाड़, चुहलबाजी और कौतुकप्रियता का समावेश पारसी कविता के प्रभाव के कारण हुआ है। पारसी थियेटर्स का भी अप्रत्यक्ष प्रभाव माना जा सकता है। मुंशी विश्वेश्वर प्रसाद की 'चुरिहारिनलीला' तथा भारतेन्दु की 'देवी छद्मलीला' और 'रानी छद्मलीला' इसी तरह की कृतियाँ हैं। उर्दू शैली की रचना करके सम्भवतः कवियों ने उर्दू और हिन्दी के बीच की खाई को पाटने का प्रयास किया था। इस तरह की रचनाओं में हिन्दी भाषा के जातीय रूप के निर्माण की प्रक्रिया दृष्टिगोचर होती है तथा खड़ीबोली का स्वाभाविक प्रयोग भी दिखाई पड़ता है, जो राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण प्रतीत होता है।

कविगोष्ठी और समस्यापूर्ति

रीतिकालीन भावधारा को ही नहीं बहुत कुछ उसी तरह के वातावरण को भी बनाये रखने का प्रयत्न इस युग में किया गया है। अब तक अधिकांश दरबार टूट चुके थे, जो थोड़े-बहुत अवशिष्ट थे, उनके पास भी इतना धन नहीं था कि कवियों को संरक्षण देते। राजनीतिक

अस्तव्यस्तता के कारण कविता के प्रति पूर्ववत् आकर्षण तथा रुचि भी नहीं रही।

भारतेन्दु युग के रचनाकार जिस प्रकार से देश के अन्य संकट के प्रति सजग थे उसी तरह से कविता पर आये हुए संकट से भी परिचित थे। तत्कालीन परिस्थिति में उन्होंने कवि-गोष्ठियों की स्थापना की। कविता के प्रचार-प्रसार के लिए स्वयं भारतेन्दु जी ने ही काशी में 'कविता वर्द्धिनी सभा' तथा कानपुर में 'रसिक समाज' की स्थापना की थी। कविता-कामिनी राज दरबार से मुक्त होकर कवि-गोष्ठियों में थिरकने लगी।

भारतेन्दु युग में गृहीत रीतिकालीन काव्य-शैलियों में 'समस्यापूर्ति' पर्याप्त लोकप्रिय काव्य-पद्धति थी। कवियों की प्रतिभा और रचना-कौशल को परखने के लिए कठिन-से-कठिन विषयों पर समस्यापूर्ति करायी जाती थी। कवि-गोष्ठियों में नियमित रूप से प्रतिष्ठित कवियों द्वारा समस्यापूर्ति की प्रतियोगिता करायी जाती थी। कानपुर के 'रसिक समाज' में 'पपीहा जब पूछिहै पीव कहाँ' की प्रताप नारायण मिश्र द्वारा दी गई पूर्ति कितनी हृदयस्पर्शी बन पड़ी है -

बन बैठी है मान की मूरति-सी, मुख खोलत बोलै न 'नाहीं' न 'हाँ'।
तुम ही मनुहारि के हारि परै, सखियान को कौन चलाई तहाँ।
बरषा है 'प्रतापजू' धीर धरौ, अब लौं मन को समझायो जहाँ।
यह ब्यारि तबै बदलेगी कछू, पपीहा जब पूछिहै 'पीव कहाँ'?

समस्यापूरण के लिए उस समय परम्परागत शृंगारिक विषयों का ही अधिक प्रचलन था, यह दूसरी बात है कि नवीन सामाजिक परिवेश में काव्य में जिन नये नये विषयों को स्थान प्राप्त होने लगा था, कभी कभी उनकी झलक समस्यापूर्तियों में भी दिखाई दे जाती थी। शृंगार रस की ललित समस्यापूर्ति के लिए प्रेमघन, लक्ष्मीराम, विजयानन्द त्रिपाठी, गोविन्द गिल्लाभाई, रामकृष्ण वर्मा 'बलवीर', बेनी द्विज, ब्रजचन्द बल्लभीय आदि कवियों को पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त हुई थी।

समस्यापूर्ति का वैशिष्ट्य कवियों की सूझ-बूझ, उक्ति-वैचित्र्य और आशुकवित्व में होता है। तत्कालीन कवि-समाज में समस्यापूर्ति के लिए वाहवाही प्राप्त करना गौरव की बात समझा जाता था। दुर्गादत्त व्यास द्वारा 'समस्यापूर्ति प्रकाश', अम्बिकादत्त व्यास के 'समस्यापूर्ति सर्वस्व', गोविन्द गिल्लाभाई के 'समस्यापूर्ति प्रदीप' और द्विजगंग रचित 'समस्या प्रकाश' आदि ग्रंथ इस समय के अत्यन्त लोकप्रिय समस्यापूर्ति ग्रंथ हैं।

प्राचीन को नवीन के साथ जोड़ने तथा हिन्दी को समृद्ध बनाने-
केलिए भारतेन्दु युग के कवियों ने संस्कृत की उत्कृष्ट रचनाओं का हिन्दी में
अनुवाद किया। साथ ही बहुत सी प्राचीन काव्यपोथियों की खोज की गई
एवं अनेक काव्य-ग्रंथों की प्रामाणिक टीकाएं प्रस्तुत की गई। अनुवाद
की दिशा में राजा लक्ष्मण सिंह अनूदित 'रघुवंश' और ~~मेघदूत~~ 'मेघदूत'
सर्वप्रथम उल्लेखनीय कृतियाँ हैं। भावान्तरण की सरसता, शैली लालित्य,
शुद्ध-स्वच्छ ब्रजभाषा और सवैया छन्द का मनोहारी प्रयोग इन रचनाओं
की प्रमुख विशेषताएं हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'नारद-भक्ति-सूत्र' और
शाण्डिल्य के 'भक्ति-सूत्र' को 'तदीय सर्वस्व' और 'भक्तिसूत्र वैजयन्ती'
शीर्षकों से अनूदित किया, किन्तु इनमें भाषा लालित्य के स्थानपर
प्रतिपाद्य की प्रेषणीयता पर अधिक ध्यान दिया गया है। बाबू तोताराम
द्वारा वाल्मीकि-रामायण का 'राम-रामायण' शीर्षक से भाषान्तरण भी
काव्य-कला की दृष्टि से साधारण प्रयास है। किन्तु ठाकुर जगमोहनसिंह
द्वारा अनूदित 'ऋतु संहार' और 'मेघदूत' इस समय की विशिष्ट कृतियाँ हैं।
संस्कृत के साथ साथ कई अंग्रेजी ग्रंथों के भाषान्तरण भी इस
काल में हुए हैं। गोल्डस्मिथ कृत 'हरमिट' और 'डेजर्टेड विलेज'
को 'एकान्तवासी योगी' तथा 'ऊजड़ ग्राम' के रूप से अनुवाद कर
श्रीधर पाठक इस दिशा में पहल की। इनकी रचना क्रमश: खड़ीबोली
और ब्रजभाषा में हुई है तथा मूल कृतियों के भाव-सौरभ को अनुवाद
में कोई हानि नहीं पहुँचायी गई है। श्रीधर पाठक की काव्य प्रतिभा
और अभिव्यंजन सौष्ठव को इन कृतियों में अधिकांशत: लक्षित
किया जा सकता है। अत: काव्यानुवाद को बड़े पैमाने पर प्रोत्साहन
देने, इस सन्दर्भ में ब्रजभाषा और खड़ीबोली दोनों का ही ललित रूप में
प्रयोग करने और अंग्रेजी की काव्य-कृतियों के भाषान्तरण का समारम्भ
करने का श्रेय पूरीतरह भारतेन्दु युग को है।

काव्यरूप

भारतेन्दु युग में अधिकांशत: मुक्तकधर्मी काव्यों का सृजन
हुआ। परम्परागत काव्यरूपों तथा छन्दों में रोला, मालिनी, वंशस्थ, पद,
कवित्त, सवैया, दोहा प्रयुक्त हुए हैं। इस युग में अनेक लोकगीतों को
भी साहित्यिक महत्त्व प्राप्त हुआ। भारतेन्दु की प्रेरणा से इसयुग के
कवियों ने कजली, लावनी, मुकरी, खेमटा, होली, कबीर, योगीड़ा, साँझी
आदि लोक-काव्यरूपों को ग्रहण किया। इनके अलावा मल्हार,

कलिंगड़ा, ठुमरी, गजल, ख्याल, पूरवी, काली सारंग, भैरवी, हिंडोला, झिंझोटी, दादरा, विहाग, बसन्त देश, यमन आदि रागों में भी लोकप्रिय गीतों का सृजन हुआ। भारतेन्दुयुगीन कवियों ने अंग्रेजी की 'एलेजी' की तरह अनेक शोकगीतों की भी रचना की। प्रतापनारायण मिश्र ने हरिश्चन्द्र स्वामी दयानन्द, चार्ल्स ब्रैडला की मृत्यु पर शोकगीत लिखा। हरिश्चन्द्र की मृत्यु पर श्रीधर पाठक ने 'हरिश्चन्द्राष्टक' तथा बालमुकुन्द गुप्त ने प्रताप नारायण की मृत्यु पर 'स्वर्गीय कवि' नाम से शोकगीतों की रचना की। उर्दू काव्य-शैलियों में गजल, कसीदा, शेर, मरसिया को भी हिन्दी काव्य रचना में स्वीकार किया गया।

काव्यभाषा

भारतेन्दु युग में कविता की भाषा मुख्यतः ब्रजभाषा ही बनी रही। किन्तु इस युग के कवियों ने पारम्परिक काव्य भाषा को रुक्षता तथा दुर्बोध्य शब्दावली से मुक्त किया और जहाँ तक सम्भव हो सका सरल और सहज शब्दों का उपयोग करके कविता की प्रभावोत्पादकता की समृद्धि की। लोक प्रचलित मुहावरों, लोकोक्तियों का प्रयोग करके इस युग के कवियों ने भाषा की सौन्दर्य-वृद्धि की तथा उसकी अभिव्यंजना-शक्ति को बढ़ाया। कविता में व्यक्त विचारों और भावनाओं को जन साधारण तक पहुँचाने के लिए यह आवश्यक भी था कि कविता की भाषा सरल हो। शृंगारिक तथा रीतिबद्ध कविताओं में जहाँ परिनिष्ठित तथा स्तरीय ब्रजभाषा का प्रयोग किया गया वहीं व्यंग्यात्मक तथा प्रचारवादी कविताओं में सरल भाषा अपनायी गई। शब्द विन्यास में भी इसी तरह का दोहरापन दिखाई देता है। स्तुतियों तथा शृंगारी कविताओं में संस्कृत की तत्सम शब्दावली की प्रचुरता है और प्रचारवादी कविताओं में अरबी और अंग्रेजी के शब्दों के साथ तद्भव शब्दों का बाहुल्य है। ब्रजभाषा में अवधी रूपों का भी समावेश हुआ है।

यद्यपि भारतेन्दु के मन में शुरू से ही काव्य-रचना में खड़ीबोली के प्रयोग पर आशंका बनी हुई थी, फिर भी इस युग में कई लोगों ने सफलतापूर्वक खड़ीबोली में काव्य-रचना की। कहीं कहीं उर्दू मिश्रित खड़ीबोली का प्रयोग भी परिलक्षित होता है। भारतेन्दु ने भी अपने नाटकों में कहीं कहीं खड़ीबोली में पद्य रचना की। यद्यपि साहित्यिक भाषा के रूप में खड़ीबोली की यह प्रारम्भिक अवस्था है, लेकिन हिन्दी को साहित्यिक भाषा के रूप में विकसित करने में इसका योगदान अवश्य रहा है।

खड़ीबोली गद्य का विकास

भारतेन्दु से पूर्व खड़ीबोली गद्य के उदाहरण बहुत कम मिलते हैं। राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र इत्यादि के राजकाज और पत्र व्यवहार आदि में मिलते हैं। खड़ीबोली की साहित्यिक प्रतिष्ठा का प्रमुख कारण ब्रज और अवधी की तरह धार्मिक नहीं है बल्कि व्यावसायिक तथा राजनीतिक है। डॉ बच्चन सिंह इसकी प्रतिष्ठा के पीछे नई अर्थ व्यवस्था को भी जिम्मेदार मानते हैं। उनका विचार है कि अंग्रेजों के आगमन से पूर्व गाँव और नगर सामान्यतः अलग अलग स्वतन्त्र इकाइयाँ थीं। उनके निवासियों को वस्तु-विनिमय के लिए प्रायः बाहर नहीं जाना पड़ता था। किन्तु पुरानी अर्थ-व्यवस्था के टूटने और यातायात के लिए नये साधनों के उपलब्ध होने पर लोगों को जीविका अथवा वस्तु-विनिमय के लिए बाहर जाना पड़ा। इस तरह देश धीरे धीरे आर्थिक एकसूत्रता में बँधता गया। पारस्परिक सम्पर्क तथा भावों और विचारों के आदान-प्रदान के लिए एक सामान्य भाषा का होना जरूरी था। यह भाषा हिन्दी या हिन्दुस्तानी ही हो सकती थी।

खड़ीबोली के विकास मुसलमानों का भी योगदान रहा। मुगलों की जो भाषा विकसित हुई, वह खड़ीबोली ही थी। मुसलमानों के दक्षिणी हमलों के परिणामस्वरूप इसे दक्षिण में फैलने का मौका मिला। वास्तव में खड़ीबोली का उदय साम्प्रदायिक सद्भावना की भाषा के रूप में हुआ। चूँकि व्यावसायिक केन्द्र नगरों में स्थित थे इसलिए खड़ीबोली का प्रचार-प्रसार नगरों में अधिक हुआ। अंग्रेजी शासन-काल में भी खड़ीबोली को ही महत्व मिला। राजकाज में खड़ीबोली को प्रतिष्ठित करने में फोर्ट विलियम कालेज की उल्लेखनीय भूमिका रही। कालेज के भाषा-मुंशी लल्लूलाल तथा सदल मिश्र ने खड़ीबोली की सहज-शैली के विकास में योग दिया। उन्होंने खड़ीबोली में 'प्रेम सागर' के नाम से भागवत के दशम स्कन्ध का ही लगभग अनुवाद किया। इसमें ब्रजभाषा का आधिपत्य है, कई स्थलों पर पद्यात्मक वाक्य-गठन किया गया है। उनकी भाषा तत्कालीन शिक्षित वर्ग, शासक वर्ग तथा धर्म-प्रचारकों के बीच प्रचलित भाषा का ही चित्र प्रस्तुत करती है। यहाँ खड़ीबोली अपनी क्षेत्रीय सीमाओं से उठकर व्यापक साहित्यिक भाषा बनने की आरम्भिक प्रक्रिया में है। अभी उसका मानक रूप निश्चित नहीं हो सका है। इसीलिए तो वह कभी अरबी-फारसी से बोझिल हो जाती है, तो कभी संस्कृत के तत्सम शब्दों का आश्रय लेती है और कभी प्रचलित काव्यभाषा का आधार ग्रहण कर लेती है।

फोर्ट विलियम कालेज के दूसरे पण्डित थे सदल मिश्र। इन्होंने 1803 ई० में 'नासिकेतोपाख्यान' की रचना की। इसका आधार ग्रंथ कठोपनिषद है। सहज एवं सरल भाषा मिश्र जी अपनी बात प्रस्तुत करते हैं, जिसमें अनावश्यक कृत्रिमता नहीं होती। गद्य में पद्य को वे घुसने नहीं देते। फिर भी कहीं कहीं भद्दी वाक्य-रचना से बच नहीं पाये।

लल्लूजी लाल एवं सदल मिश्र के अलावा दो और पण्डित जो फोर्ट विलियम कालेज से जुड़े थे, वे हैं 'सुख सागर' के रचयिता सदासुखलाल एवं रानी केतकी की कहानी के लेखक इंशा अल्ला खां। सदासुखलाल ने विष्णु पुराण के किसी अंश पर आधारित कर 'सुखसागर' की रचना की। इंशा अल्ला खां ने 'रानी केतकी की कहानी' रची, जिसमें न तो हिन्दी की छूट थी और न किसी और बोली की पुट। इंशा अल्ला खां ने अपने पूर्व के लेखकों से भिन्न धार्मिक विषय से अलग हटकर लौकिक शृंगार से सम्पन्न गल्पात्मक प्रेमाख्यान प्रस्तुत किया। उन पर न तो फारसी भाषा का प्रभाव है और न ही देशी भाषा का और न ही इसमें संस्कृत-निष्ठता है। इस भाषा में गम्भीरता के बदले उछलकूद तथा कौतुक क्रीड़ा है। पंजाबी और पुरानी हिन्दी की भाँति भाषा में क्रिया का लिंग और वचन कर्ता के अनुसार रखा गया है। ईसाई धर्म प्रचारकों तथा अन्य धार्मिक संस्थाओं ने भी खड़ीबोली गद्य के प्रचार-प्रसार में योगदान दिया। ईसाई प्रचारक बाइबिल का हिन्दी रूपान्तर हिन्दी-भाषी जनता के मध्य वितरित करते थे। आर्य समाज तथा ब्रह्म समाज में भी प्रचार की माध्यम भाषा हिन्दी थी। इसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दी गुजरात, महाराष्ट्र, बंगाल, पंजाब आदि प्रान्तों में बिना किसी भेदभाव के प्रसारित हुई।

आरम्भिक खड़ीबोली की साहित्यिक परम्परा के दो बहुचर्चित लेखक हैं – राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' तथा राजा लक्ष्मण सिंह। शिवप्रसाद हिन्दी को उर्दू के समीप रखना चाहते थे। वे वस्तुतः इंशा की बोलचाल की भाषा के समर्थक थे। राजा साहब सरकारी अधिकारी थे। इसीलिए उनकी भाषागत नीति सरकारी नीति की ओर उन्मुख होती चली गई। कोर्ट-कचहरियों की भाषा के प्रति उनकी चिन्ता बढ़ती गयी। वे आम हिन्दुस्तानियों से यह अपेक्षा करते थे कि वे अदालती भाषा सीखें और उसी को आदर्श मानकर अपनी भाषा को विकसित करें। आलसियों का कोड़ा, राजा भोज का सपना, भूगोल हस्तामलक, इतिहास तिमिरनाशक, गुरुका, हिन्दुस्तान के पुराने राजाओं का हाल, मानव धर्मसार, सिक्खों का उदय और अस्त आदि पुस्तकों की रचना की। भूगोल हस्तामलक की भूमिका में उन्होंने स्वीकार किया है कि फारसी शब्दों के जानने से लड़कों की बोलचाल सुधर जायगी। लेकिन उर्दू द्वारा बोझिल भाषा के कारण राजा साहब बदनाम हुए।

शिवप्रसाद की भाषा-नीति के विरुद्ध राजा लक्ष्मण सिंह ने गद्य के क्षेत्र में पदार्पण किया। ये भाषा को अरबी-फारसी के दबाव से मुक्त करने के लिए कटिबद्ध थे। इस्लाम शब्दावलियों की ओर इनका झुकाव अधिक था। राजा लक्ष्मण सिंह की घोषणा थी कि "हमारे मत में हिन्दी और उर्दू दो बोली न्यारी न्यारी हैं। हिन्दी इस देश के हिन्दू बोलते हैं और उर्दू यहाँ के

मुसलमानों तथा फारसी पढ़े हुए हिन्दुओं की बोलचाल है। हिन्दी में संस्कृत के पद बहुत आते हैं उर्दू में अरबी फारसी के। परन्तु कुछ अवश्य नहीं कि अरबी-फारसी शब्दों के बिना हिन्दी न बोली जाय और न हम उस भाषा को हिन्दी कहते हैं जिसमें अरबी फारसी के शब्द भरे हों।" अपने इसी भाषिक आदर्श का ध्यान रखकर इन्होंने 'शकुन्तला' और 'मेघदूत' नाम की रचनाएँ कीं।

पत्रकारिता

भारतेन्दुयुगीन पत्रकारिता का जहाँ तक प्रश्न है, इस युग में नवीन चेतना के संवाहक के रूप में पत्र-पत्रिकाओं की बहुत ही महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। इस युग के अधिकांश साहित्यकार पत्रकार भी थे। इसीलिए उनका साहित्यिक सृजन पत्रकारिता से पर्याप्त प्रभावित है। पण्डित छोटूलाल मिश्र और पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र के संपादकत्व में 18 मई 1878 ई० को प्रकाशित समाचार-पत्र में उल्लेख किया गया था कि "जिस देश और जिस समाज में उसी देश और समाज की भाषा में जब तक समाचार-पत्रों का प्रचार नहीं होता तब तक उस देश और समाज की उन्नति नहीं हो सकती। समाचार-पत्र राजा और प्रजा के बीच वकील है। दोनों की खबर दोनों को पहुँचाया जाता है।"

वैसे तो भारतेन्दु युग से पहले ही पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन प्रारम्भ हो गया था। हिन्दी का प्रथम पत्र 'उदंत मार्तंड' का प्रकाशन 1826 में हुआ था। हिन्दी पत्रकारिता में भारतेन्दु का प्रवेश क्रान्तिकारी माना जाता है। अठारह वर्ष की उम्र में उन्होंने 'कविवचन सुधा' (1868) का संपादन किया। बालमुकुन्द गुप्त का विचार है कि "यद्यपि हिन्दी भाषा के प्रेमी उस समय बहुत कम थे तो भी हरिश्चन्द्र के ललित लेखों ने लोगों के जी में ऐसी जगह बना ली थी कि 'कविवचन-सुधा' के हर नम्बर के लिए लोगों को टकटकी लगाये रहना पड़ता था। 'कविवचन-सुधा' और 'हरिश्चन्द्र मैगज़ीन (1873) का प्रकाशन तथा सफलता इतनी अधिक प्रेरणादायक थी कि हिन्दी में अनेक पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन का जोरदार सिलसिला शुरू हो गया। भारतेन्दु ने 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' के द्वारा भाषा के समन्वयकारी रूप तथा देवनागरी लिपि के पक्ष को सुदृढ़ बनाया। सन् 1877 ई० में बालकृष्ण भट्ट ने 'हिन्दी प्रदीप' का प्रकाशन किया। इस पत्र का हिन्दी भाषा और शैली के विकास में पर्याप्त योगदान है। हिन्दी प्रदेश से बाहर कलकत्ता से छोटूलाल के संपादन में 'भारतमित्र' का प्रकाशन हुआ था। प्रदीप नारायण मिश्र के संपादकत्व में 1883 में 'ब्राह्मण पत्र' निकलना शुरू हुआ था। मिश्र जी ने इस पत्रिका में नागरी के समर्थन तथा फारसीनिष्ठ

हिन्दी के विरोध में खुलकर अपने विचार प्रस्तुत किये। सन् 1881 में चौधरी बद्रीनारायण प्रेमधन ने 'आनंद कादंम्बिनी' नाम से एक पत्रिका का प्रकाशन शुरू किया था। इसके अतिरिक्त 'हिन्दी दीप्ति प्रकाश', 'विद्या-बंधु', 'बालबोधिनी', 'मित्र विलास', 'सार सुधानिधि', 'उचित वक्ता', 'वैष्णव पत्रिका', 'भारत जीवन', 'हिन्दोस्तान' आदि अनेक पत्रिकाएँ इस युग में हिन्दी भाषा के प्रचार-प्रसार में अहम भूमिका निभा रही थीं। सामान्य जनता तक अपने विचारों को पहुँचाने की चिन्ता का परिणाम था कि इनकी भाषा तथा शैली में पाठकों के साथ एक गहरी आत्मीयता का भाव मिलता है। ये हिन्दी को सभी वर्गों में लोकप्रिय बनाना चाहते थे। इसीलिए सभी वर्गों के बीच प्रचलित भाषा-रूपों को अपनाने में इन्हें हिचक नहीं होती थी। एक ओर इन्होंने ठेठ शब्दों का प्रयोग करके ग्रामीण भाषा को महत्व दिया तथा दूसरी ओर फारसी-अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग करके तत्कालीन शिक्षितों की भाषा को प्रतिनिधित्व दिया। भाषा का द्वार देशी और विदेशी भाषाओं की ओर खुला छोड़कर इन्होंने बड़ी सावधानी से उचित तत्वों को समाविष्ट करके हिन्दी भाषा की साहित्यिक क्षमता को समृद्ध किया। हास्य-व्यंग्य इन पत्रिकाओं की प्रमुख विशेषता थी। इनमें ज्ञान, विज्ञान, दर्शन, साहित्य, कला-कौशल, राजनीति, अर्थ-व्यवस्था, इतिहास आदि सभी विषयों को सम्मिलित किया गया। समाज में व्याप्त अनेक बुराइयों के निराकरण तथा नारी-मुक्ति की दिशा में भी इन पत्रों में प्रकाशित लेखों का अच्छा प्रभाव पड़ा। देश-विदेश में घटित अनेक समाचारों से जनता को अवगत करा के इन पत्रिकाओं ने नई चेतना की जागृति में उल्लेखनीय योगदान किया। इस युग में कुछ पत्रिकाएँ ऐसी थीं जिनका उद्देश्य था भारतीय नारियों में भारतीय आदर्श की रक्षा करते हुए आधुनिक प्रगति में उनकी साझेदारी की भूमिका को उद्घाटित करना। 'वनिता-हितैषी', 'सुगृहिणी तथा भारत भगिनि' ऐसी ही पत्रिकाएँ थीं। कुछ पत्रिकाओं में जन-शिक्षा तथा छात्रोपयोगी विषयों का समावेश प्रमुख रूप से किया गया। 'बुद्धि प्रकाश' एवं 'काशी पत्रिका' क्रमशः ऐसी ही पत्रिकाएँ हैं। इस युग में धर्म तथा जाति सम्बन्धी पत्रिकाएँ भी प्रकाशित हुईं। 'वैष्णव पत्रिका', 'पीयूष प्रवाह', 'ज्ञान प्रदायिनी पत्रिका', 'धर्म दिवाकर', 'आर्यावर्त' आदि पत्रिकाओं में धर्म का स्वर विशेष रूप से मुखरित था। जातीय पत्रिकाओं में 'कायस्थ', 'कान्यकुब्ज प्रकाश', 'माहेश्वरी वैश्य', 'हितकारी जैन' आदि उल्लेखनीय हैं।

भारतेन्दु मण्डल

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अनुभव किया कि देशभर में राष्ट्रप्रेम की भावना का प्रसारित करना अकेले उनके वश की बात नहीं है। देश की आजादी के लिए जन-जन को जगाना इस समय की प्राथमिक आवश्यकता है। अतः तत्कालीन कवि-लेखकों को मिलाकर उन्होंने भारतेन्दु-मण्डल का निर्माण किया था जिसके अन्तर्गत ~~सभी~~ भिन्न-भिन्न विधाओं में कलम चलानेवाले सभी विशिष्ट साहित्यकार आ गये थे।

राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द तथा राजा लक्ष्मण सिंह के भाषिक विरोधों का सामञ्जस्य भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके मंडल के लेखकों में मिलता है। पूर्ववर्तियों के भाषा-प्रयोगों से लाभ उठाकर भारतेन्दु जी ने मध्यम मार्ग का अनुसरण किया। उन्होंने लोक प्रचलित उर्दू शब्दों को अपनाते हुए लोकोक्तियों तथा मुहावरों के प्रयोग से भाषा में नई शक्ति पैदा की। लोक से शब्दों को ग्रहण करके इस युग के लेखक उनके संस्कार की सदैव आवश्यकता महसूस नहीं करते। उनका अनपढ़ तथा ठेठ प्रयोग करने में भी उन्हें हिचक नहीं होती। इसका विशुद्ध मनोरंजक व्यंग्य भारतेन्दु युग की भाषा में सामाजिक तथा राजनीतिक यथार्थ के साक्षात्कार तथा सुधार का चुभता माध्यम बन गया।

भारतेन्दु युग में खड़ीबोली सच्चे अर्थों में भलीभाँति साहित्य के गौरवमय पद पर आरूढ़ हो गई। अब वह मुख्यतः अनुवाद की भाषा नहीं थी, बल्कि स्वतन्त्र विचार की भाषा थी। गद्य की नूतन विधाओं के शुभारम्भ के साथ वह नया तेवर लेकर पाठकों के समक्ष उपस्थित हुई। नाटक, कथा-साहित्य, निबन्ध, आलोचना अनेक गद्य विधाओं में खड़ीबोली को अनेकशः विकसित और समृद्ध होने का अवसर मिला।

भारतेन्दु के समय तक हिन्दी व्याकरण का कोई मानक रूप निर्धारित नहीं हो सका था, इसीलिए भाषा में कतिपय स्वच्छन्द तथा अशुद्ध प्रयोग उपलब्ध होते हैं। भाववाचक संज्ञा बनाते समय ये कभी-कभी दोहरे प्रत्ययों का संयोग कर देते हैं। जैसे, श्यामताई, सौन्दर्यता आदि। हकौ, सुनै, करै आदि ब्रजभाषा के प्रयोग भी इसमें सम्मिलित हैं।

प्रताप नारायण मिश्र भारतेन्दु मण्डल के ऐसे लेखक हैं जो भाषा की सहजता के चक्कर में मानक भाषा और जन-भाषा के अन्तर को प्रायः भूल जाते हैं। उनकी भाषा की संरचना विविध स्तरीय पाठकों के आकर्षण के प्रयत्न का परिणाम है। उनमें एक ओर अंग्रेजी, अरबी-फारसी

और संस्कृत के शब्द हैं तो दूसरी ओर ठेठ शब्द का भी ठाट है। इनकी भाषा है तो अगम्भीर किन्तु व्यंग्य इतना तीव्र है कि पाठक का स्वाद ही बिगड़ जाता है। मिश्र जी की शैली भी बड़ी घुमावदार है। इनके निबन्धों में पाठक कहाँ से कहाँ पहुँच जायगा कुछ पता नहीं। छोटे छोटे विषयों पर मनोरंजक निबन्ध लिखने का श्रेय इनकी व्यंग्यात्मक भाषा को ही है। 'भाषा और शैली में नागरिकता खोजनेवाले साहित्य रसिकों को मिश्र जी से निराशा ही हाथ लगेगी, पर जो लोग उनकी निर्बंधता को, उनके व्यंग्य और विनोद को उनकी बेतकल्लूफी को अकृत्रिम ढंग से व्यक्त देखना चाहेंगे उनको आशातीत प्रसन्नता होगी।'

भारतेन्दु युग के दूसरे खड़ीबोली के उन्नायक लेखक हैं पण्डित बालकृष्ण भट्ट। ये मिश्र जी से कई माने में भिन्न थे। संस्कृत के पण्डित, अंग्रेजी के ज्ञाता तथा नागरिक संस्कारों से युक्त भट्ट जी का भाषा पर पूर्ण अधिकार था। भट्ट जी की भाषा पूर्णरूपेण साहित्यिक है। उन्होंने अपने लेखन से सिद्ध कर दिया कि खड़ीबोली एक श्रेष्ठ साहित्यिक भाषा की तरह देशी-विदेशी शब्दों को पचाने में समर्थ है। शैली के आधार पर अनेक भाषा-रूपों का विवाद व्यर्थ है। एक ही निबन्ध में अनेक शैलियों का सामंजस्य बैठाकर इन्होंने भाषा के मतभेद को मिटाने का प्रयास किया।

भारतेन्दु युग में खड़ीबोली पत्रकारिता की भी भाषा थी, इसीलिए इसकी बनावट में आम पाठकों की चिन्ता अधिक है। साथ ही भाषा के प्रचार-प्रसार की परवाह अधिक है।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में प्रचारात्मकता की मानसिकता थी। अतः इस काल के लेखकों ने गद्य के क्षेत्र में अनेक प्रकार के प्रयोग किये हैं। बदरी नारायण चौधरी, श्रीनिवास दास, मंशी देवी प्रसाद, गोपालराम गहमरी, गोविन्द नारायण मिश्र, देवकीनन्दन खत्री आदि लेखकों ने खड़ीबोली की समृद्धि में योगदान किया।

भारतेन्दु युग में इतनी नई चेतना कविता की अपेक्षा गद्य साहित्य में अधिक मुखरित हुई है। भारतेन्दु मण्डल में निबन्ध और नाटक दो प्रमुख गद्य विधाएँ थीं जिनके द्वारा सामाजिक तथा राष्ट्रीय संदर्भ को विविध रूपों में उद्घाटित किया गया है। आर्थिक व्यवस्था में बदलाव के परिणामस्वरूप व्यक्तिवाद का जो आविर्भाव हुआ उसकी सबसे पहले निबन्धों में ही अभिव्यक्ति हुई। नाटक तो सर्वाधिक जनतान्त्रिक विधा है ही, इसके द्वारा साधारण जनता के मानव में लेखक अपने विचारों को बड़ी आसानी से उतार सकता है। भारतेन्दु रचित नाटकों में प्राचीन और नवीन का सम्मिश्रण आसानी से लक्षित किया जा सकता है। नाटकों में

पौराणिक, ऐतिहासिक तथा सामाजिक घटनाओं के माध्यम से राष्ट्रीय भावना को जगाना तथा कुरीतियों और बुराइयों से अवगत कराना इनका प्रमुख लक्ष्य है। उपन्यास विधा भी अपनी यथार्थवादी संरचना के कारण इस युग के लेखकों को आकर्षित करती है। उपन्यास के प्रति सबसे पहले साधारण तथा अर्द्धशिक्षित लोग अधिक आकर्षित हुए। इस काल के लेखकों ने मनोरंजन के साथ-साथ उपन्यासों के माध्यमों से सांस्कृतिक उन्नयन का भी प्रयास किया।

भारतेन्दु युग में पाश्चात्य शिक्षा तथा साहित्य के प्रभाव से साहित्य की समीक्षा को शुरुआत हुई। कवियों के प्रति पूज्य भाव कम हुआ और कविता के गुण-दोष का विवेचन खुलकर किया जाने लगा। अतः कुलमिलाकर भारतेन्दु युग में न केवल विविध विधाओं का आरम्भ हुआ, बल्कि गद्य पुष्ट और विकसित भी हुआ। पद्य की तुलना में गद्य का माध्यम वैचारिक क्रान्ति के संवहन में अधिक सक्षम होता है। भारतेन्दु युग में आधुनिकता का द्वार गद्य के द्वारा ही उद्घाटित होता है।

प्रमुख कवि

भारतेन्दु युग में शताधिक कवियों ने विविध प्रवृत्तियों के अन्तर्गत काव्य-रचना की है, किन्तु उनमें भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण मिश्र, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', जगन्मोहन सिंह, अम्बिकादत्त व्यास और राधाकृष्ण दास के नाम प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त श्रीधर पाठक, बालमुकुन्द गुप्त, हरिऔध आदि की कविताओं का प्रकाशन इस युग में ही प्रारम्भ हो गया था, किन्तु उनका साहित्यिक व्यक्तित्व परवर्ती युग में ही अधिक निखर कर सामने आया।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (सन् 1850-1885 ई०)

कविवर हरिश्चन्द्र ~~(1850-1885 ई०)~~ इतिहास प्रसिद्ध सेठ अमीचन्द की वंश परम्परा में उत्पन्न हुए थे। उनके पिता बाबू गोपालचन्द्र गिरिधर दास भी अपने समय के प्रसिद्ध कवि थे। हरिश्चन्द्र ने बचपन से ही काव्य-रचना आरम्भ कर दी थी और कम उम्र में ही कवित्व-प्रतिभा और सर्वतोमुखी रचना-शक्ति का ऐसा परिचय दिया था कि उस समय के पत्रकार तथा साहित्यकारों ने 1880 ई० में उन्हें 'भारतेन्दु' की उपाधि से सम्मानित किया था। कवि होने के साथ ही भारतेन्दु पत्रकार भी थे। 'कवि-वचन-सुधा' और 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' उन्हीं के संपादन में प्रकाशित हो रही थीं। नाटक, निबन्ध आदि की रचना द्वारा उन्होंने खड़ीबोली की गद्य-शैली के निर्धारण में भी महत्त्वपूर्ण योग दिया था। उनकी कविताएँ विविध-विषय-विभूषित हैं - भक्ति, शृंगारिकता, देश-प्रेम, सामाजिक परिवेश और प्रकृति के विभिन्न संदर्भों को लेकर उन्होंने विपुल परिमाण में

काव्य-रचना की, जो कहीं सरसता और लालित्य में अद्वितीय है तो कहीं स्थूल वर्णनात्मकता की परिधि को लाँघने में असमर्थ है। उनकी काव्य-कृतियों की संख्या सत्तर है। 'प्रेम मालिका', 'प्रेम सरोवर', 'गीत गोविन्दानन्द', 'वर्षा विनोद', 'विनय-प्रेम-पचासा', 'प्रेम फुलवारी', 'वेणु गीति' आदि विशेषतः उल्लेखनीय हैं। भारतेन्दु ने प्राचीन काव्य-परम्परा के माधुर्य, लालित्य तथा सरसता को सुरक्षित रखते हुए कविता को जिन्दगी के ऊबड़-खाबड़ धरातल पर संचरित करने की शक्ति प्रदान की। भारतेन्दु पूर्ण संस्कारी रचनाकार थे। पश्चिमी सभ्यता की टक्कर से भारतीय सभ्यता ऐसे ही कई क्षेत्रों में टूट-रही थी, उसे बचाने के दायित्व का भारतेन्दु जैसे संस्कारी व्यक्तियों ने अनुभव किया। उन्होंने परम्परा के मोह में नये की उपेक्षा नहीं की। बल्कि प्राचीनता की पृष्ठभूमि पर धीरे धीरे नये को प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया। उनकी काव्य-दृष्टि उदारतावादी थी। इसीलिए उसमें परम्परावादी तथा प्रगतिवादी दोनों को तृप्ति मिलती है। उनकी कविता में प्रतिक्रियावादी पागलपन नहीं है। उन्होंने बेधड़क अच्छे को अच्छा और बुरे को बुरा कहा। नये विषयों के समावेश, नये काव्य-रूपों के अन्तर्भाव, अभिव्यंजना-कौशल, भावों की मार्मिक अभिव्यक्ति, विरोधी तत्वों को ~~समस्त~~ शामिल करने की उदारता, ~~अभिव्यंजक-कौशल~~ और हास्य-व्यंग्य आदि ऐसे तत्व [redacted] हैं, जिनमें भारतेन्दु की रचना ~~एं~~ मूल्यवान हो जाती हैं। उदाहरण स्वरूप, निम्न सवैये की मधुरता लक्षणीय है:

एक ही गाँव में वास सदा, पर पास रहो नहिं जानती हैं।
पुनि पाँचएँ-सातएँ आवत-जात, की आस न चित्त में आनती हैं।
हम कौन उपाय करैं इनको, 'हरिचन्द' महा ठग ठानती हैं।
पिय प्यारे तिहारे निहोरे बिना, अँखियाँ दुखिया नहिं मानती हैं॥

भारतेन्दु एक ओर भक्ति और शृंगार के भाव में डूबकर रसावगाहन करते हैं तो दूसरी ओर ~~उनकी शोषण-नीति~~ भारतीयों की दीन-दशा पर विगलित होकर आँसू बहाते हैं। एक ओर जनकल्याण हेतु किये गये किसी कार्य के [redacted] लिए अंग्रेज सरकार के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं तो दूसरीओर उनकी शोषण-नीति का पर्दाफाश करते हैं। राष्ट्रीय जागरण के क्षेत्रमें विविध आन्दोलनों के साथ साहित्यिक आन्दोलन की अगुवाई करके भारतेन्दु ने हिन्दी को सही अर्थ में राष्ट्रीय भाषा बनाने का उपक्रम किया।

"निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल,
बिन निज भाषा ज्ञान के मिटै न हिय को शूल।" कहकर

भारतेन्दु ने नवजागरण के मूल मन्त्र को जन जन में प्रचारित किया। साथ ही अपने संपादन-कौशल से पत्रकारिता की कला में नूतन आयाम जोड़ा। 'कवि-वचन-सुधा', 'हरिश्चन्द्र मैगजीन', 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका' आदि पत्रिकाओं के संपादन व प्रकाशन के जरिए साहित्य के संदेश को जन-जीवन तक पहुँचाया। साहित्य के साथ साथ उन्होंने शिक्षा, व्यापार, पारस्परिक विग्रह,

अकाल, महामारी, परतन्त्रता की पीड़ा, उद्योग आदि अनेक समस्याओं पर उन्होंने खुलकर विचार व्यक्त किया। स्वदेशी भावनाओं को पुख्ता करने के लिए भारतेन्दु ने अनेक अपीलें भी प्रकाशित कीं। वे सच कहने या लिखने के अपराध में दण्डित लोगों की प्रशंसा करके उन्हें सत्य मार्ग पर अटल रहने का प्रोत्साहन देते रहे। व्यापक पाठक समुदाय तैयार करने के उपक्रम में भारतेन्दु ने समाज के सभी वर्गों के वैचारिक तथा धार्मिक स्तर को ध्यान में रखा। इन्होंने हिन्दी गद्य के पठन-पाठन की आदत विकसित की।

पत्रकारिता की भाँति निबन्ध के क्षेत्र में भी भारतेन्दु का योगदान महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने विविध विषयों पर निबन्ध लिखकर हिन्दी गद्य की इस विधा को स्वयं तो सशक्त बनाया, साथ ही अन्य लेखकों का मार्ग-दर्शन भी किया। भारतेन्दु अपने निबन्धों द्वारा हृदय में गुदगुदी ही नहीं पैदा करते बल्कि मस्तिष्क में सोच भी जगाते हैं। निबन्धों पर लेखक की जिन्दादिली और राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक प्रेम की स्पष्ट छाप देखी जा सकती है। डा० रामविलास शर्मा के शब्दों में, "हिन्दी में श्लेष पैदा करने की खूबी से यहाँ भरपूर फायदा उठाया गया है। पाठक से बातचीत करने की-सी सरलता और मित्रता का भाव इनमें झलकता है। साथ ही गम्भीर मुद्रावालों के लिए 'हरीचन्द अगर दमाद अभिमानी के' वाली चुनौती भी शब्दों की ओर से दिखाई दे जाती है। कल्पना को यहाँ मुक्त आकाश में पंख फैलाने की सुविधा है, भाषा, रस और अलंकार लेखक के पीछे हाथ बाँधे चलते हैं।

भारतेन्दु अच्छे नाटककार तथा अभिनेता दोनों थे। इन्होंने कुल सत्रह (मौलिक एवं अनूदित) नाटकों की रचना करके हिन्दी के नाट्य-साहित्य की रिक्तता की पूर्ति की। पौराणिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक तथा सामाजिक कथानक के आधार पर नाटकों की सृष्टि करके नाट्य-साहित्य की अनेक सम्भावनाओं का द्वार उद्घाटित किया। 'चन्द्रावली', 'सती प्रताप' का कथानक पौराणिक है, 'नीलदेवी' का ऐतिहासिक 'भारत-दुर्दशा' तथा 'भारत जननी' राजनीतिक कथानक के आधार पर रचे गये हैं। 'अंधेर नगरी', 'वैदिक हिंसा हिंसा न भवति', 'विषस्य विषमौषधम्', 'प्रेम योगिनी' आदि प्रहसनों में विभिन्न सामाजिक, ऐतिहासिक या पौराणिक संदर्भों को कच्चे माल के रूप में प्रयुक्त किया गया है। अनूदित नाटकों में रत्नावली, पाखण्ड विडम्बन, धनंजय विजय, मुद्राराक्षस, कर्पूर मंजरी (सभी संस्कृत से), दुर्लभ बन्धु (अंग्रेजी से) उल्लेखनीय है। विद्यासुन्दर (बंगला से), सत्य हरिश्चन्द्र (संस्कृत से) रूपान्तरित

किये गये हैं।

एक श्रेष्ठ नाटककार होने के साथ साथ भारतेन्दु एक नाट्य चिन्तक भी हैं। 'नाटक' नामक ग्रंथ में उन्होंने अपने नाट्य विचारों को लिपिबद्ध किया है। अनेक देशी-विदेशी ग्रंथों का अध्ययन करके प्राचीन और नवीन नाट्य-कलाओं का समिश्रण करके भारतेन्दु ने नाटक सम्बन्धी विचारों को प्रतिपादित किया। समयानुसार परिवर्तन की आवश्यकता पर बल देते हुए भारतेन्दु ने लिखा है, "जिस समय में जैसे सहृदय जन्म ग्रहण करें और देशीय रीति-नीति का प्रवाह जिस रूप में चलता रहे उस समय में उक्त सहृदयगण के अन्तःकरण की वृत्ति और सामाजिक रीति-पद्धति इन दोनों विषयों की समीचीन समालोचना करके नाटकादि दृश्य काव्य प्रणयन करना योग्य है, भारतेन्दु ने इसी दृष्टि से नाट्य-विषय का विस्तार किया और नाटकों को राष्ट्रीय उत्थान तथा सामाजिक संस्कार का माध्यम बनाया। जीवन के यथार्थ को नाटकों में अंकित करने के कारण उन्हें नाटक में यथार्थवाद का जन्मदाता माना जाता है। इन्होंने चरित्र-चित्रण और पात्रानुकूल भाषा और संवाद की योजना करके नाट्य-रचना में नये शिल्प का प्रयोग किया। इन्होंने हिन्दी में प्रहसन लिखने का सूत्रपात किया और अपनी प्रतिभा से प्रहसन-कला को चरमोत्कर्ष पर पहुँचाया। नाटकों में मध्यवर्गीय चेतना को अभिव्यक्ति देने की पहल भी भारतेन्दु के द्वारा की गई।

एक नाटक-स्रष्टा, नाट्य-चिन्तक होनेके साथ साथ भारतेन्दु एक चरित्र अभिनेता भी थे। हिन्दी रंगमंच के विकास में भी आपने पर्याप्त सहयोग किया। वेश, वाणी, अभिनय के स्वरूप, पात्रों के आने और जाने की विधि, वाद्य-यन्त्रों के प्रयोग, पद्य और गीत के स्वाभाविक व्यवहार आदि पर गम्भीरता से विचार करके भारतेन्दु ने आदर्श रंगमंच की स्थापना की। नाटक और रंगमंच के साथ इनके जुड़ाव को देखकर कई लोगोंने इन्हें 'हिन्दी का शेक्सपियर' कहा है।

कुलमिलाकर भारतेन्दु ने जहाँ अपने अतीत के गौरव की याद की, वहाँ वर्तमान की अधोगति पर क्षोभ होता है। भारतीय समाज की जड़ता, रूढ़िप्रियता एवं तमाम कुरीतियों पर उन्हें पीड़ा होती है। देश की दुर्दशा, धार्मिक मतमतान्तर, छुआछूत, बाल-विवाह, विधवा-विवाह, व्यभिचार, अशिक्षा, ~~अंग्रेजी~~ अज्ञान, कूपमण्डूकता, भूत-प्रेत, अपव्यय, न्याय व्यवस्था, पुलिस प्रशासन, फैशन, सिफारिश, रिश्वतखोरी, बेकारी, सुरा सेवन आदि विषयों पर समाज-संस्कार हेतु भारतेन्दु ने अपने मण्डल के साथ भरसक प्रयत्न किया। विविध विधाओं में रचनाएँ करके भारतेन्दु ने कुसंस्कारों के खिलाफ आवाज उठाई और पाठकों को भी उसकेलिए जाग्रत एवं प्रेरित किया।

प्रताप नारायण मिश्र (1856 - 1894 ई०)

प्रताप नारायण मिश्र का जन्म बैजेगाँव, उन्नाव के एक प्रतिष्ठित ज्योतिष परिवार में हुआ था। उनकी शिक्षा-दीक्षा कानपुर में हुई और उन्होंने अपने पैतृक व्यवसाय को न अपनाकर साहित्य-रचना की ओर मन लगाया। भारतेन्दु से प्रभावित होकर आप भारतेन्दु मण्डल के प्रमुख सदस्य बने। मिश्र जी अपनी फक्कड़ाना प्रकृति और चुभते व्यंग्य के कारण पाठकों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करते थे। मिश्र जी का काव्यजगत भारतेन्दु की तरह ही विस्तृत है किन्तु इनकी वृत्ति देश की दीन दशा तथा सामाजिक समस्याओं में अधिक रमी है। 'प्रेम पुष्पावली', 'मन की लहर', 'लोकोक्ति शतक', 'श्रृंगार विलास' आदि इनकी उल्लेखनीय काव्य-कृतियाँ हैं। काव्यकृतियों में प्रेम की भावना का चित्रण मुख्य रूप से किया गया है। इनके प्रेम-चित्रण पर उर्दू कविता का प्रभाव परिलक्षित होता है। उदाहरणार्थ,

"दीदारी दुनियादारी सब नाहक का बखेड़ा है।
सिवा इश्क के, जहाँ जो कुछ है निरा बखेड़ा है।"

भारतेन्दुयुगीन कविता की सभी प्रवृत्तियों के दर्शन मिश्रजी की कविताओं में किये जा सकते हैं। मिश्र जी का हास्य-व्यंग्य उनके नाटकों में भी खूब मिलता है। उनके प्रायः सभी नाटक प्रहसन ही हैं, जिनमें एकांकी के तत्त्व भी कुछ मात्रा में निहित हैं। 'संगीत शाकुन्तल', 'भारत-दुर्दशा', 'कलि-कौतुक', 'जुआरी-खुआरी' इनके प्रसिद्ध नाटक हैं। मिश्रजी ने अपने नाटकों में भारतेन्दु की प्रहसन-कला, हास-परिहास तथा यथार्थ दृष्टि को विकसित किया है। लोक-नाट्य शैली के माध्यम से इन्होंने समाज की विकृतियों को जन साधारण के लिए प्रत्यक्ष किया है।

प्रताप नारायण मिश्र भारतेन्दु युग के एक समर्थ निबन्धकार थे। भट्टजी की तरह ये नागर साहित्य सृजन की ओर उन्मुख न रहकर जन समुदाय के बीच अपने भावों और विचारों को पहुँचाने का प्रयत्न कर रहे थे। जन साधारण से जुड़ने की चेष्टा का ही परिणाम था कि इनकी भाषा-शैली में ग्राम्य भाषा के तत्त्व पर्याप्त मात्रा में प्रविष्ट हो गये। अपने फक्कड़ और ~~अस्त~~ स्वच्छन्द मिजाज के कारण उन्होंने ग्रामीणता तथा अशिष्टता की भी परवाह नहीं की। मुहावरों के बल पर भाषा का एक अनोखा रूप ये अपने निबन्धों में प्रस्तुत करते हैं। सुगम साहित्य के निर्माता मिश्र जी में गम्भीर तथा विवेचनात्मक निबन्ध लिखने की भी क्षमता थी, जिसका परिचय उनके 'मनोयोग', 'स्वार्थ' आदि निबन्धों में मिलता है। 'ब्राह्मण' पत्र का सफल संपादन करके इन्होंने अपनी संपादन क्षमता ~~परिचय~~ का परिचय मिलता है।

बदरी नारायण-चौधुरी 'प्रेमघन' (1855-1923 ई०)

उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर जिले में जन्मे बद्रीनारायण 'प्रेमघन' ने भारतेन्दु की ही भाँति गद्य और पद्य में विपुल साहित्य का सृजन किया। पत्रकार के रूप में साप्ताहिक 'नागरी नीरद' और मासिक 'आनन्द कादम्बिनी' का संपादन कर काफी चर्चित हुए। 'प्रेमघन सर्वस्व' इनकी अनेक काव्यकृतियों के साथ 'जीर्ण जनपद', 'आनन्द अरुणोदय', 'हार्दिक हर्षादर्श', 'मयंक महिमा' आदि रचनाएँ संगृहीत हैं। समसामयिक संवेदना प्रेमघन की कविताओं में प्रमुख रूप से उभरती है। अंग्रेजी राज्य की शोषण और कूटनीति का उन्होंने अपनी रचनाओं के जरिए पर्दाफाश किया। 'लालित्य लहरी' के वन्दना सम्बन्धी दोहों और 'ब्रजचन्द पंचक' में उनकी भक्ति-भावना अभिव्यक्त हुई है। 'प्रेमघन' की शृंगारिक कविताएँ रसिकता-सम्पन्न हैं, जातीयता, सामाजिक-स्थिति और देश भक्ति का चित्र प्रस्तुत करना उनकी रचनाओं का प्रमुख उद्देश्य। राजभक्ति और राष्ट्रभक्ति दोनों के प्रति 'प्रेमघन' की रचनाओं ने न्याय किया। उन्होंने जो कुछ भी किया देश के हित को सामने रखकर किया। देश की दुरवस्था के कारणों और देशोन्नति के उपायों का वर्णन इन्होंने भारतेन्दु से भी अधिक संख्या में किया। प्रेमघन मुख्यतः ब्रजभाषा में काव्य-रचना करते थे। भाषा के शुद्ध प्रयोग या यतिभंग की परवाह किये बिना वे भाव-गति पर अधिक जोर देते थे। छन्दोबद्ध रचनाओं के अतिरिक्त उन्होंने लोक-संगीत की कजली और लावनी शैलियों में भी सरस कविताएँ लिखी हैं।

प्रेमघन की गद्य-शैली में अनुप्रासिकता और कृत्रिमता है। इनकी वाक्य-रचना ~~शैथिल्य~~ आवश्यकता से अधिक दीर्घ है। भाषा को गुरु गम्भीर बनाने का प्रयत्न कुछ दोषों के बावजूद सराहनीय है। प्रेमघन ने अनेक नाटकों तथा प्रहसनों की रचना की है। 'भारत सौभाग्य' और 'प्रयाग रामागमन' इनके उल्लेखनीय नाटक हैं। 'आनन्द कादम्बिनी' में इनके चौदह प्रहसन प्रकाशित हुए थे जिनमें मुख्यतः राजनीतिक और सामाजिक जीवन पर व्यंग्य किया है, आधुनिक हिन्दी आलोचना के आरम्भकर्ताओं में प्रेमघन की भी गणना की जाती है। इन्होंने रस और सन्धि की दृष्टि से 'संयोगिता स्वयंवर' नाटक की समीक्षा की थी। भाषा का जहाँ तक प्रश्न है, उनकी भाषा में स्वाभाविकता कम और बनावट अधिक रही थी। यद्यपि प्रेमघन विदेशी शब्दों के प्रयोग के पक्ष में नहीं थे, फिर भी संस्कृत शब्दों के साथ साथ अनेक विदेशी शब्दों का भी प्रयोग करते थे। वैसे उन्होंने 'संस्कृत-गर्भित भाषा' में भी रचनाएँ कीं। उनके वाक्य अर्थ-गर्भित, लम्बे और सन्तुलित हैं। उन्होंने आलोचनात्मक शैली का आश्रय ग्रहण कर तर्क, पाण्डित्य, वक्रता आदि गुणों से उसे समन्वित किया।

जगन्मोहन सिंह : (1857-1899 ई)

जगन्मोहन सिंह मध्य प्रदेश की विजयराघवगढ़ रियासत के राजकुमार थे। उन्होंने काशी में संस्कृत और अंग्रेजी की शिक्षा प्राप्त की। वहाँ रहते हुए उनका भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से सम्पर्क हुआ, लेकिन भारतेन्दु की रचना-शैली की उन पर वैसी छाप नहीं मिलती जैसी प्रतापनारायण मिश्र और प्रेमघन की कृतियों में परिलक्षित होती है। शृंगार वर्णन और प्रकृति के सौन्दर्य की अवतारणा उनकी प्रमुख काव्य-प्रवृत्तियाँ हैं, जिन्हें उनकी काव्य-कृतियों — प्रेमसम्पत्ति लता, श्यामालता, श्यामा सरोजिनी और देवयानी में सर्वत्र पाया जा सकता है। 'श्यामा-स्वप्न' शीर्षक उपन्यास में भी उन्होंने प्रसंगवश कुछ कविताओं का समावेश किया है। उनके द्वारा अनूदित 'ऋतुसंहार' और 'मेघदूत' भी ब्रजभाषा की सरस कृतियाँ हैं। इनकी कविता में भाव की सूक्ष्म अंजना तथा चित्रात्मकता पायी जाती है। रीतिमुक्त घनानन्द की परम्परा का उत्तम निर्वाह इनकी कविता में हुआ है। कल्पना-लालित्य, भावुकता, चित्र-शैली और सरस मधुर ब्रजभाषा उनकी रचनाओं की अन्यतम विशेषताएँ हैं। भारतेन्दु युगीन कवियों में सबसे अधिक इनकी रचनाओं में अलंकारों का स्वाभाविक एवं सफल नियोजन हुआ है।

अम्बिकादत्त व्यास : (1858-1900 ई)

काशी के सुप्रसिद्ध कवि दुर्गादत्त व्यास के सुपुत्र अम्बिकादत्त व्यास संस्कृत और हिन्दी के अच्छे विद्वान थे और दोनों भाषाओं में साहित्य-सृजन करते थे। 'पीयूष-प्रवाह' का सफल संपादन उनके व्यक्तित्व की अन्यतम उपलब्धि है। उनकी काव्य-कृतियों में 'पावस पचासा', 'सुकवि सतसई' और 'हो हो होरी' उल्लेखनीय हैं। इनकी रचना ललित ब्रजभाषा में हुई है। उन्होंने खड़ीबोली में 'कंस वध' नामक प्रबन्ध-काव्य की रचना शुरू तो कर दी, पर कुल तीन सर्ग ही लिख पाये थे। इन्होंने 'बिहारी विहार' के नाम से बिहारी के दोहों को कुण्डलियों में रूपान्तरित किया था।

व्यास जी की निबन्ध-शैली पर आर्य समाज की प्रचारात्मकता का असर अधिक है। इसमें पण्डिताऊपन का आधिक्य भी है। भारतेन्दु के प्रभाव से व्यास जी ने ललिता, भारत सौभाग्य, गोसंकट आदि नाटकों की रचना की। इनमें गेय पदों का समावेश बहुत ही सुन्दर बन पड़ा है। व्यास जी की प्राचीन भारतीय संस्कृति में गहन आस्था थी, जिसे प्रत्यक्ष रूप से व्यक्त करने के अतिरिक्त उन्होंने पाश्चात्य सभ्यता की कमियों पर भी व्यंग्य किये हैं।

राधाकृष्ण दास : (1865-1907 ई०)

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के फुफेरे भाई बहुमुखी प्रतिभा के धनी राधाकृष्ण दास ने कविता के अतिरिक्त नाटक, उपन्यास, और आलोचना के क्षेत्रों में उल्लेखनीय साहित्य-सृजन किया। उनकी कविताओं में भक्ति, श्रृंगार और समकालीन सामाजिक-राजनीतिक चेतना को विशेष स्थान प्राप्त हुआ है। 'भारत बारहमासा' और 'देश-दशा' समसामयिक भारत के विषय में उनकी प्रसिद्ध कविताएँ हैं। कुछ कविताओं में प्रसंगवश प्रकृति के सुन्दर चित्र भी उकेरे गये हैं। राधाकृष्ण-प्रेम के निरूपण में भक्तिकाल और रीतिकाल की वर्णन परम्पराओं का उनपर समान प्रभाव पड़ा है।

राधाकृष्ण दास की कतिपय कविताएँ 'राधाकृष्ण ग्रंथावली' में संकलित हैं, किन्तु उनकी अनेक रचनाएँ अभी अप्रकाशित हैं। अम्बिकादत्त की परम्परा में इन्होंने रहीम के दोहों पर कुण्डलियाँ रची हैं। ब्रजभाषा की कविताओं में मधुरता और खड़ीबोली की रचनाओं में प्रासादिकता की ओर इनकी सहज प्रवृत्ति रही है।

भारतेन्दु-युग में समसामयिक सामाजिक-राजनीतिक परिवेश के प्रति जिस जागरुकता का उदय हुआ था, उसका निर्वाह उस कालके गौण कवियों में नहीं मिलता। उनकी रचनाओं में भक्ति-भावना और श्रृंगार-वर्णन की प्रमुखता रही है। ऐसे कवियों में नवनीत चतुर्वेदी, उनके शिष्य जगन्नाथ दास 'रत्नाकर', गोविन्द गिल्ला भाई आदि प्रेम और भक्ति सम्बन्धी रचनाएँ कीं तो दिवाकर भट्ट, रामकृष्ण वर्मा, राजेश्वरी-प्रसाद सिंह, राव कृष्णदेवशरण सिंह आदि ने रीतियुगीय परम्परा के आधार पर नायक-नायिकाओं की मनोदशाओं का सरस चित्रण किया है। वस्तुस्थिति यह है कि आधुनिक हिन्दी साहित्य का यह प्रथम उत्थान था और इस अवधि के गौण कवि अब तक भक्ति और रीति के प्रभाव से पूरी तरह मुक्त नहीं हुए थे। फिर भी उन सब में हिन्दी के प्रति एवं राष्ट्र और समाज के प्रति अटूट निष्ठा थी। "उन्होंने हँसते-हँसते अपने को उत्सर्ग करके हिन्दी के विशाल भवन का निर्माण किया जिसको सजाने, सँवारने और मूल्यवान उपकरणों से अलंकृत करने का कार्य द्विवेदी-युग के साहित्यकारों ने पूरा किया।" बल्कि यह कहना समुचित होगा कि द्विवेदी युग आगे छायावाद केलिए भारतेन्दु युग में धरातल का निर्माण किया गया था।

द्विवेदी-युग (जागरण सुधारकाल)

आधुनिक साहित्य विशेष रूप से कविता का द्वितीय उत्थान महावीर प्रसाद द्विवेदी के नेतृत्व में गतिशील हुआ, इसीलिए इसका नामकरण द्विवेदी युग हुआ। इस युग में राजनीतिक और सामाजिक नवजागरण का प्रभाव और भी गहन तथा व्यापक हो गया था। राष्ट्रीय संचेतना तथा सांस्कृतिक गरिमा के पूर्ण अहसास ने साहित्य को नई दिशा की ओर उन्मुख किया, इसी कारण से इस युग के लिए जागरण-सुधारकाल नाम भी प्रस्तावित किया गया है। चूँकि इस युग में आगे विकसित होने वाले छायावादी काव्यान्दोलन जिसे कुछ विद्वानों ने स्वच्छन्दतावाद कहा है कि प्रवृत्तियों का सूत्रपात हो गया है। अतः इस युग के लिए पूर्व स्वच्छन्दतावादी काल, नाम का इस्तेमाल उचित माना गया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस युग को 'हिन्दी काव्य की नई धारा' कहा है। इसका तात्पर्य है काव्य की यह नई धारा उन्हें काव्यवस्तु, अनुभूति, अभिव्यक्ति तथा भाषा की दृष्टि से प्राचीन परम्परा से भिन्न प्रतीत हुई थी। यद्यपि आगे विकसित होनेवाले छायावादी काव्य की तुलना में आलोचकों ने इस युग की कविता की कतिपय न्यूनताओं तथा सीमाओं को सयत्न उद्घाटित किया है; किन्तु उससे द्विवेदी युग का महत्त्व कम नहीं हो जाता। वास्तव में राजनीतिक-सामाजिक संदर्भ में द्विवेदीयुगीन काव्य का अपना ऐतिहासिक महत्त्व है। एक ओर इस युग के काव्य में समकालीन संवेदना की ठेठ अभिव्यक्ति हुई है तो दूसरी ओर आगे क्रिया-प्रतिक्रिया में उत्पन्न एवं विकसित होनेवाले अनेक काव्यान्दोलनों का सशक्त आधार भी इसी युग में निर्मित हो जाता है। क्रिया-प्रतिक्रिया के रूप में साहित्य के विकास को निर्दिष्ट करनेवाले आलोचकों की निगाह में द्विवेदी युग भी भारतेन्दु युग की प्रतिक्रिया का परिणाम है। यह प्रतिक्रिया सामान्य अर्थवत्ता, शिल्पगत संकीर्णता और ब्रजभाषा की परम्परागत परिपाटी के विरोध में दिखाई देती है। वस्तुस्थिति इससे किंचित भिन्न है क्योंकि द्विवेदी युग प्राचीन शैली का विरोध करते हुए भी प्राचीनता से पूर्णतया सम्बद्ध है। अतीत संस्कृति के तत्त्वों को युगानुकूल पुनर्सृजित करने का दृढ़ संकल्प इस युग में व्याप्त रहता है। द्विवेदी युग को भारतेन्दु युग का पूरक और संस्कारकर्ता माना जा सकता है। नवजागरण को कविता के माध्यम से पूरीतरह से उजागर करने का दायित्व-निर्वाह इस युग के कवियों द्वारा किया गया है।

द्विवेदीयुगीन राष्ट्रीयता की अवधारणा भारतेन्दु युग से भिन्न है। इसमें राजभक्ति की भावना का मिश्रण नहीं है। इस युग तक भारतीयों ने अंग्रेजों की नीयत अच्छी तरह से पहचान ली थी। उनके द्वारा किये गये

सार्वजनिक हित के कार्य के पीछे भारत में स्थायी रूप से अपने उपनिवेश की स्थापना तथा विकास की कृत्सित से लाद कर भारतीयों को अनन्त काल तक गुलाम बनाये रखने की उनकी दुर्भावना को यहाँ के जागरूक राष्ट्रभक्तों ने अच्छी तरह से समझ लिया था। हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तान का गाना देने वाले भारतीयों को इस तथ्य को समझने में देर नहीं लगी कि इस देश का हर निवासी वह चाहे जिस धर्म से जुड़ा हो उसको पूरी तरह से साथ लिये बिना स्वतन्त्रता की प्राप्ति कदापि सम्भव नहीं होगी। मुसलमान भी अब शासकों की बिरादरी का नहीं है कि उस पर शक किया जाय, बल्कि वह भी हिन्दुओं की तरह ही अंग्रेजों का गुलाम है। इस समझ में 'भारतीयता' का वास्तविक प्रत्यय उभर कर सामने आया। यह प्रत्यय सांस्कृतिक बोध का अभिन्न हिस्सा बन गया। इन सबका यह परिणाम हुआ कि निश्चित साँचे में ढला हुआ धर्म की चहारदीवारी को तोड़कर राष्ट्रधर्म में परिणत हो गया। भारतीय आदर्शवादी प्रत्ययों तथा सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति गहरी बौद्धिक संलग्नता द्विवेदीयुगीन कविता में कई रूपों में व्यक्त हुई है।

इस युग में चलने वाले स्वदेशी आन्दोलन तथा स्वराज्य आन्दोलन से भारतीयों में सह-अस्तित्व की भावना तो जगी ही विदेशीपन के परित्याग की चेतना भी जागृत हुई। यह स्वदेशीपन भारतेन्दु युग की तरह खान पान, वेश-भूषा तथा भाषा तक ही सीमित नहीं रहा बल्कि सांस्कृतिक अस्तित्व के संरक्षण तक व्याप्त हो गया।

विदेशी शासन की पराधीनता से उत्पन्न विषम एवं पीड़ाजनक स्थितियों से इन कवियों का हृदय विगलित हो जाता था। राष्ट्रीय संवेदना के परिणाम स्वरूप इनमें पराधीनता से मुक्ति का भाव मुखर उजागर हुआ तथा राजनीतिक एवं प्रगतिवादी स्वर भी मुखरित हुआ। इस युग के कवियों की राजनीतिक चेतना की अभिव्यक्ति अनेक रूपों में हुई है, कहीं ये नई शिक्षा पद्धति तथा ज्ञान-विज्ञान का स्वागत करते दिखाई देते हैं, कहीं भारतीयों के विदेशी गमन और विदेशियों के भारत आगमन के औचित्य पर विचार करते हैं और विदेशी शासकों द्वारा देश के आर्थिक शोषण पर दुःख प्रकट करते हैं। वे देश की वर्तमान अधोगति और पिछड़ेपन के कारणों की समीक्षा करते-करते आत्म-समीक्षा में जुट जाते हैं।

मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत-भारती' में तत्कालीन राष्ट्रीय चेतना, वर्तमान की हीन अवस्था तथा अतीत के गौरव का चित्रण करनेवाली विख्यात रचना है इससे नवयुवकों को पर्याप्त प्रेरणा मिली और जगरा में प्रबल जागृति पैदा हुई। फलतः उनमें पराधीनता की बेड़ी तोड़ने के लिए एक अजीब बेचैनी पैदा हो गयी। राष्ट्रीयता की भावना का ही

प्रबल दबाव था जिसके कारण राम-कृष्ण जैसे पौराणिक चरित्रों में भी देशप्रेम की भावना को विशेष रूप से अंकित किया गया। कहीं कहीं तो कथा की सीमा के बाहर जाकर भी वैयक्तिक प्रेम को राष्ट्रीय प्रेम में परिणत कर दिया गया है। 'प्रियप्रवास' की राधा जब कृष्ण के प्रति यह कथन करती हैं कि "प्यारे जावें जगहित करें, गेह चाहे न आवें"। इतना ही नहीं, दैवी चरित्रों को मानवतावादी भावना से संयुक्त करके उन्हें इह लोक का उद्धारकर्ता बताया गया है। भगवान के दर्शन विलास और वैभव की भूमि न होकर दीन-दुखियों की कुटिया में होगा, ऐसा द्विवेदी युग के कवियों का विश्वास है।

ईश्वर के प्रति इस नये दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति में धर्म का एक नया स्वरूप निखर कर सामने आया। राम और कृष्ण संघर्षशील जन भावना से बहुत दूर हट चुके थे क्योंकि उनका रूप श्रद्धेय और पूज्य ही नहीं, ब्रह्ममय हो गया था। ब्रह्म में अपार शक्ति होती है, उसके द्वारा किये गये संघर्ष मात्र लीला के लिए होते हैं। इसलिए साधारण लोगों के जीवन के संघर्ष से उसका तादात्म्य नहीं हो पाता। द्विवेदी युग में ईश्वर में मनुष्यत्व के गुणों का संधान करके उसे जन संवेदना के समीप जाने का प्रयास किया गया। वे संघर्ष की प्रेरक शक्ति बनकर आधुनिक भारतीय जीवन में पुनः अवतरित हुए। आस्थावादी भावनात्मक अंध श्रद्धा को तोड़ने के लिए संस्कृति की बुद्धि सम्मत व्याख्या द्विवेदी युग की अनिवार्यता थी जहाँ एक ओर कविता के जीवन की समस्याओं का अभिन्न अंग बनाकर उपयोगितावादी बनाया वहाँ दूसरी ओर उसकी कलात्मकता को क्षीण भी बनाया।

द्विवेदी युगीन काव्य में कवियों की सामाजिक चेतना का प्रसार कई रूपों में दिखायी देता है। कवियों ने समाज के उपेक्षित तथा शोषित वर्ग की ओर बड़ी सहानुभूति के साथ दृष्टिपात किया। इस पर इस युग में अनेक फुटकल कविताएँ रची गईं, जिनमें जमींदार, महाजन, पुलिस के अत्याचारों का निरूपण करते हुए कृषक और मजदूर तथा अनाथों के प्रति सहानुभूति व्यक्त की गई है।

सुधार की भावना से प्रेरित कविगण उपदेशक का भी रूप धारण कर लेते हैं। तत्कालीन ईसाई पादरियों तथा आर्यसमाजियों की उपदेशात्मकता का ही प्रभाव था कि कवि भी समाज के अलग अलग वर्गों को धर्म-कर्म के प्रति सचेत होने का उपदेश देते थे। उदाहरण के लिए मैथिलीशरण की यह पंक्ति इस प्रवृत्ति की ओर संकेत करता है -

"केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए
उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए।"

कवियों को जब यह महसूस हुआ कि सीधे-सादे उपदेश का प्रभाव यथोचित नहीं पड़ रहा है तो उन्होंने अपनी वाणी में व्यंग्य और उपहास

को भी सम्मिलित कर लिया । व्यंग्य की ओर प्रायः धार्मिक कट्टरपंथियों, जड़ता के समर्थक आडम्बरवादियों पर की गई है हरिऔध जी की यह कविता उसका उदाहरण प्रस्तुत करता है –

"इस तरह के हैं कई टीके बने, जो भी तन के रोग को देते भगा ।
जो न मन के रोग का टीका बना तो हुआ क्या लाभ यह टीका लगा ॥"

द्विवेदी युग में निम्न तथा शोषित, पीड़ित वर्ग की कुछ अधिक मार्मिक ढंग से अभिव्यक्ति हुई है। द्विवेदीयुगीन काव्य में सामान्य मनुष्य की प्रतिष्ठा का प्रयत्न दृष्टिगत होता है। सामान्य मनुष्य की प्रतिष्ठा का ही प्रतिफल था कि देवी-देवताओं तथा कथित नायक-नायिकाओं का स्थान साधारण मनुष्य को प्राप्त हो गया।

विषय-विस्तार का जहाँ तक प्रश्न है, इस बारे में स्वयं महावीर-प्रसाद द्विवेदी का कहना है कि "चींटी से लेकर हाथी पर्यन्त, भिक्षुक से लेकर राजा पर्यन्त, बिन्दु से लेकर समुद्र पर्यन्त जल, अनन्त आकाश, अनन्त पृथ्वी, अनन्त पर्वत सभी पर कविता हो सकती है।" द्विवेदी युग में कवियों की दृष्टि जीवन की विविध समस्याओं तथा भावों तक पहुँची। फलतः काव्य के क्षेत्र में नये-नये विषयों का प्रवेश हुआ। सज्जनों का स्वभाव, मैना की आजादी, मौत का डंडा, पुस्तक प्रेम आदि इसी तरह के नये विषय हैं। द्विवेदी जी के नेतृत्व में रीतियुगीन शृंगार परम्परा से इस युग के कविगण कुछ हद तक मुक्त हुए। यहाँ तक कि प्रकृति को भी केवल उद्दीपन अथवा आलम्बन के रूप में प्रयोग नहीं किया गया, बल्कि स्वतन्त्र चित्रण हुआ। प्रेम को शुद्ध और सात्विक रूप से प्रकृति के माध्यम से चित्रित किया गया। श्रीधर पाठक एवं रामनरेश त्रिपाठी के द्वारा किये गये स्वतन्त्र प्रकृति-चित्र अत्यन्त चित्ताकर्षक तथा प्रभावशाली बन पड़ा है।

द्विवेदी युग में प्रबन्ध, मुक्तक, गीत, महाकाव्य, खण्डकाव्य आदि सभी काव्य-रूपों को ग्रहण किया गया। कई आलोचकों के अनुसार चूँकि यह युग खड़ीबोली कविता का आरम्भिक काल था इसीलिए कथानक के आधार पर कविता लिखना कवियों को अधिक सहज प्रतीत हुआ। वास्तव में आरम्भिक अवस्था में श्रेष्ठ महाकाव्यों के सृजन हेतु नव प्रतिष्ठित भाषा का यथोचित प्रयोग और निर्वाह बहुत आसान कार्य नहीं है, इसमें द्विवेदी युग के कवियों की लगन, प्रतिभा तथा संकल्प की चेतना को अस्वीकारा नहीं जा सकता। खड़ीबोली को

काव्य-प्रतिभा के आरम्भिक दौर में प्रिय प्रवास, साकेत जैसे महाकाव्यों का प्रकाशन, जयद्रथ वध, किसान, पंचवटी आदि खण्डकाव्यों का प्रणयन द्विवेदी युग की उल्लेखनीय उपलब्धियाँ मानी जा सकती है।

द्विवेदी युग की ~~दूसरी~~ कविता का दूसरा प्रमुख विधान है मुक्तक। मुक्तकों को कविगण सौन्दर्यानुभूति को आलंकारिक चमत्कार या उक्ति-वैचित्र्य के सीमित दायरे में अभिव्यंजित करते हैं। इनकी ये अभिव्यंजनाएँ कहीं-कहीं मार्मिक तथा हृदयस्पर्शी हैं। मुक्तकों की एक शैली समस्यापूर्तिवाली भी है जो इस युग में भारतेन्दु युग का बढ़ाव है। कुछ मुक्तकों की संरचना में कथानक का रुख भी सम्मिलित मिलता है। मुक्तकों में कविगण सौन्दर्यानुभूति को आलंकारिक चमत्कार या उक्ति-वैचित्र्य के सीमित दायरे में अभिव्यक्त करते हैं। इनकी ये अभिव्यंजनाएँ कहीं-कहीं मार्मिक तथा हृदयस्पर्शी हैं। मुक्तकों की एक शैली समस्यापूर्तिवाली भी है जो इस युग में भारतेन्दु युग का ही बढ़ाव है। कुछ मुक्तकों की संरचना में कथानक का रुख भी सम्मिलित है।

इस युग में गीतों की रचना-पद्धति में भी वैविध्य दृष्टिगोचर होता है। गीतों के सृजन में पद-शैली, लोक-शैली तथा अंग्रेजी गीतों का समन्वित प्रयोग हुआ है। श्रीधर पाठक ने गीत-गोविन्द के ढंग पर भारत रत्न आदि गीतों की रचना की। रामचरित उपाध्याय, वियोगी हरि तथा पाठकजी ने भक्तिकालीन पद्य परम्परा के गीतों का भी सृजन किया है। कुछ रचनाकारों के गीतों में लोक-गीतों का प्रभाव भी दृष्टिगत होता है। उदाहरण के लिए सुभद्रा कुमारी चौहान की कविता 'झाँसी की रानी'।

द्विवेदी युग में गद्य काव्य लेखन का भी शुभारम्भ किया गया। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने स्वयं 'लेग स्वराज़' और समाचार पत्रों का विराट रूप लिखकर काव्यात्मक गद्य प्रबन्ध का आरम्भ किया। इस युग में गद्य-काव्य के निर्माण का विशेष श्रेय रायकृष्ण दास, चतुरसेन शास्त्री और वियोगी हरि को है। इस काल के गद्य काव्य एकतरह के लघु प्रबन्ध मुक्तक हैं जिनमें रस परिपाक का प्रयास न करके कोमल भावनाओं के अभिव्यंजन पर बल दिया गया है।

काव्यरूपों के वैविध्य के साथ ही छन्दों का वैविध्य भी इस काल में दृष्टिगोचर होता है। कवित्त, सवैया, दोहा आदि के अतिरिक्त संस्कृत के द्रुतविलम्बित, शिखरिणी, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, गीतिका, रूपमाला आदि छन्दों का प्रयोग किया गया। इस युग में लावनी का बड़ा प्रचार था। हिन्दी छन्दों के कुछ चरणों तथा लावनी के अन्त्यानुप्रास को मिलाकर नये ढंग का गीतपरक छन्द रचा गया। द्विवेदी युग में अतुकान्त छन्दों की परम्परा सन् 1903 ई० से शुरू हो गई थी,

जिसमें सन् 1909 ई० में अयोध्या सिंह उपाध्याय का काव्यसंग्रह 'काव्य पवन' प्रकाशित हुआ। इसमें कल्पित छन्दों का इस्तेमाल किया गया।

काव्य-भाषा का जहाँ तक प्रश्न है, द्विवेदी युग में गद्य और पद्य की भाषा का अन्तर मिट गया। खड़ीबोली ने दोनों में अपना पूर्ण अधिकार जमा लिया। खड़ीबोली को हर दृष्टि से सबल एवं सशक्त बनाने में महावीर प्रसाद द्विवेदी ने स्तुत्य प्रयास किया। वे सरस्वती में प्रकाशनार्थ आई कविताओं की भाषा को सुधार करते थे तथा ~~खड़ीबोली को~~ कवि-लेखकों का मार्गदर्शन भी करते थे। खड़ीबोली को कोमलकान्त पदों से युक्त करने के लिए संस्कृत भाषा का भी सहारा लिया गया। फलतः खड़ीबोली का वास्तविक स्वरूप सहज-सरल न रहकर दुरूह और जटिल हो गया। हरिऔध जी ने तो कई छन्दों में अनुस्वार तथा विसर्ग हटाकर संस्कृत शब्दों को ज्यों का त्यों रखदिया —

रूपोद्यान प्रफुल्ल प्राय कलिका राकेन्दु बिम्बानना
तन्वंगी कलहासिनी सुरसिका क्रीड़ा कला पुत्तली।

इस प्रकार की भाषा आम आदमी तक पहुँच नहीं पायी। अतः जनसाधारण के बीच भावों और विचारों को पहुँचाने हेतु सुबोध भाषा का प्रयोग आवश्यक था। इसी आदर्श के अनुकूल 'जयद्रथ वध' तथा 'भारत-भारती' आदि रचनाओं को प्रस्तुत किया गया। द्विवेदीयुगीन भाषा में तोड़-मरोड़ ~~ज्यादा~~ कम है। भाषा का अधिकांश यद्यपि अभिधात्मक है, किन्तु धीरे धीरे लाक्षणिक, ध्वन्यात्मक तथा बिम्बात्मक तत्वों का समावेश होने-लगता है। भाषा में मुख्यतः 'प्रसाद' गुण का सन्निवेश है, लेकिन नाथूराम शर्मा, शंकर, माखनलाल चतुर्वेदी तथा सुभद्राकुमारी चौहान की रचनाओं में ओज गुण की प्रधानता है।

विषयवस्तु के यथातथ्य अंकन पर बल देने के कारण भाषा की रचनात्मक सक्रियता बाह्य स्तर पर ही सीमित रही। अभी उसमें सूक्ष्म अनुभावन की तैयारी हो रही है जिसकी पूर्णता छायावाद में दिखाई देती है।

प्रमुख कवि

महावीर प्रसाद द्विवेदी : (सन् 1864-1938 ई०)

महावीर प्रसाद द्विवेदी न केवल इस युग के साहित्यकार हैं, बल्कि युग-निर्माता भी हैं। उन्हीं के नेतृत्व और मार्गदर्शन में मैथिलीशरण और हरिऔध सरीखे महान् कवि हुए। नवजागरण के प्राक्-काल में भले ही भारतेन्दु ने उसमें प्रवेश किया था, पर पूरीतरह नवजागरण के दौर में गुजरने का अवसर महावीर प्रसाद द्विवेदी को मिला। आधुनिक का जो शंखनाद भारतेन्दु ने किया था, उसे आगे ले जाने में महावीर जी को अभूतपूर्व सफलता मिली।

द्विवेदी जी का जन्म रायबरेली जिले के दौलतपुर नामक गाँव में हुआ था। पहले गाँव में, फिर रायबरेली एवं उन्नाव में शिक्षाप्राप्त कर अपने पिता के पास मुंबई चले गये। वहाँ आपने संस्कृत, गुजराती, मराठी और अंग्रेजी का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया। मिडिल कक्षाओं में उन्होंने वैकल्पिक विषय के रूप में फारसी पढ़ी तथा बंगला का भी अच्छा अभ्यास किया। आजीविका के लिए रेलवे की नौकरी करते थे, पर किसी अधिकारी के कारण स्वाभिमान को ठेस पहुँचनेपर इन्होंने नौकरी से इस्तिफा दे दी। नौकरी में रहते हुए भी द्विवेदी जी साहित्य-साधना करते थे, पर सेवा-मुक्त होकर पूरीतरह हिन्दी भाषा और साहित्य की सेवा में समर्पित हो गये।

सन् 1900 में सरस्वती का प्रकाशन आरम्भ हुआ और 1920 तक द्विवेदी जी उसके संपादन का दायित्व सम्भाला। इन दो दशकों पर भारतेन्दु काल के नवजागरण का प्रभाव है और नवजागरण अपनी समस्त विशेषता के साथ आगे के युग को प्रभावित करता है।

द्विवेदी जी इस समय न केवल हिन्दी भाषा का परिष्करण कर रहे थे, बल्कि हिन्दी नवजागरण का नेतृत्व भी कर रहे थे। उनके लेखों का सामाजिक-ऐतिहासिक महत्त्व है। द्विवेदी जी सिर्फ साहित्यकार ही नहीं थे, बल्कि तत्कालीन, राजनीति, अर्थशास्त्र की समग्र समझ उनमें थी। साथ ही इतिहास और समाजशास्त्र का भी उन्होंने गहराई से अध्ययन किया। भारत के प्राचीन दर्शन और विज्ञान का ज्ञान भी उनमें था।

सरस्वती के माध्यम से उन्होंने ऐसा दल तैयार किया जो इस नवजागरण के प्रचार कार्य में उनकी सहायता कर सके। साहित्य के क्षेत्र में उन्होंने हिन्दी गद्य का विकास किया। आधुनिक हिन्दी को विविध विषयों के विवेचन का माध्यम बनाया। कविता में ब्रज की जगह खड़ीबोली को प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया। साहित्य से रीतिवाद को बहिष्कृत कर दिया। दो दशक तक लगातार द्विवेदीजी के ही

प्रयत्न से आधुनिक हिन्दी साहित्य को विकसित होने की एक आधारशिला मिल गई।

द्विवेदी जी ने हिन्दी भाषा के विविध पक्षों के विकास का प्रयास किया। भारत में अंग्रेजी की स्थिति, भारतीय भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाने की समस्या, भारतीय भाषाओं के बीच सम्पर्क भाषा की समस्या, हिन्दी उर्दू की समानता और आपसी भेद, हिन्दी और जनपदीय भाषाओं के सम्बन्ध आदि पर उन्होंने विस्तृत विचार-विमर्श किया। भाषा परिष्करण तो उसका एक हिस्सा मात्र है।

द्विवेदी जी ने रूढ़िवादी दृष्टि का खण्डन किया तथा प्राचीन उपलब्धियों का पुनर्मूल्यांकन किया। वे अतीत के प्रति भावुकता और रहस्यवाद का विरोध कर ठोस बौद्धिकता एवं नैतिकता के पक्षधर बने रहे। हिन्दी नवजागरण मूलतः बुद्धिवादी और रहस्यवाद-विरोधी है। नये रहस्यवाद का स्रोत बंगाल है। आधुनिक विज्ञान का विरोध करनेवाली विचारधारा गुजरात में परिलक्षित होती है। दोनों जगह की दृष्टि विज्ञान-विरोधी है। महावीर प्रसाद द्विवेदी के नेतृत्व में हिन्दी नवजागरण इन दोनों प्रदेशों के बीच, अपनी वैज्ञानिक दृष्टि की विशेषता की रक्षा करता हुआ आगे बढ़ा है। द्विवेदी जी स्वयं सात भाषाओं के ज्ञाता थे। उन्होंने हिन्दी और उर्दू की मूल एकता पर जोर दिये। उर्दू अपने शब्द फारसी से लेती है, जबकि हिन्दी संस्कृत से। जनपदीय भाषाओं से इन भाषाओं के सम्बन्ध के विषय में द्विवेदी जी कहता है, "उर्दू-चाहे जितनी सरल हो, उसमें कुछ-कुछ फारसी शब्दों का मेल होता ही है। इन प्रान्तों के ग्रामीण और साधारण मनुष्य संस्कृत के कम कठिन शब्द चाहे समझ भी लें, परन्तु फारसी को वे नहीं समझ सकते। क्योंकि फारसी विदेशी भाषा है और संस्कृत फिर भी, इस देश की भाषा है।"

द्विवेदी जी लिपि की एकता पर जोर देते हैं। भाषा-लिपि एवं गद्य-पद्य की भाषा की एकता एवं व्याकरण को स्थिर करने के प्रयास का ऐतिहासिक महत्व है जो द्विवेदी जी द्वारा सम्पन्न हुआ। हिन्दी आलोचना के विकास में द्विवेदी जी महत्वपूर्ण कड़ी हैं। उन्होंने रीतिवाद का विरोध किया। शृंगार को अनुशासित किया। अतिशय नैतिकता जो द्विवेदी युग में दिखाई देती है वह रीति-तत्वों के विरोध के स्वरूप में आयी है। कविता में द्विवेदी जी ने छन्द और तुक के प्रति एक दृष्टि दी। तुकान्त कविता की परम्परा जो हिन्दी में शताब्दियों से चली आ रही थी, उसे उन्होंने तोड़ने पर जोर दिया।

कविता के विषय में द्विवेदी जी कहते हैं, "कविता का विषय मनोरंजक और उपदेशक होना चाहिए। यमुना के किनारे केलि-कौतूहल का अद्भुत वर्णन हो चुका। न परकीयाओं पर प्रबन्ध लिखने की

अब कोई आवश्यकता है, न स्वकीयाओं के गरागत की पहेली बुझाने की। चींटी से लेकर हाथी पर्यन्त पशु, भिक्षुक से लेकर राजा पर्यन्त मनुष्य, बिन्दु से लेकर समुद्र पर्यन्त जल, अनन्त आकाश, अनन्त पृथ्वी, अनन्त पर्वत सभी पर कविता हो सकती है।"

द्विवेदी जी की आलोचना में तीव्र संघर्ष की झलक है जो साहित्य को खड़िवाद से मुक्त करके नई दिशा में विकसित करती है। यह संघर्ष केवल साहित्य तक ही सीमित नहीं है बल्कि राजनीति, समाजशास्त्र, इतिहास, दर्शन आदि अनेक क्षेत्रों में स्पष्ट परिलक्षित होता है।

नवजागरण में महावीरप्रसाद द्विवेदी और सरस्वती पत्रिका का महत्त्वपूर्ण स्थान है। नवजागरण की शक्ति जो अभी तक बिखरी थी, वह द्विवेदी जी के सफल नेतृत्व में सरस्वती पत्रिका के माध्यम से एकत्र हो गई। इसीलिए सरस्वती का साहित्यिक महत्त्व के साथ साथ ऐतिहासिक महत्त्व भी है। द्विवेदी जी के द्वारा उठाये गये सभी सवालों का समाधान छायावाद युग के नवजागरण में निराला आदि के द्वारा सम्पन्न होता है।

द्विवेदी युगीन गद्य-साहित्य का जहाँ तक प्रश्न है, इस युग में गद्य-भाषा के परिष्करण पर अधिक बल दिया गया। वरना भारतेन्दु द्वारा स्थापित हिन्दी गद्य का आदर्श इस युग में गतिशील नहीं हो पाता। इस युग में हिन्दी भाषा का अन्तर्प्रान्तीय प्रसार होनेके कारण प्रान्तीय भाषाओं का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। द्विवेदी युग के लेखकों में संस्कृत के प्रति कुछ अतिरिक्त उत्साह दृष्टिगत होता है और भाषा को व्याकरण-सम्मत बनाने पर जोर दिया जाता है। ग्रहण और निर्माण की प्रक्रिया के कारण भाषा में शैलीगत एकता अभी स्थापित नहीं हो पायी है। 'उनमें संग्रह पर आग्रह है, विश्लेषण पर नहीं, व्यवस्था पर जोर है, उद्भावना पर नहीं, सरलता पर जोर है, जटिल भावाभिव्यक्ति पर नहीं।' किन्तु उस समय की इस उपलब्धि का ऐतिहासिक महत्त्व है। महावीर प्रसाद द्विवेदी, श्यामसुन्दर दास, बालमुकुन्द गुप्त, माधव प्रसाद मिश्र, सरदार पूर्ण सिंह, आदि ने गद्य-शैली के निर्माण में अपना हाथ बटाया है। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने सरस्वती के माध्यम से भाषा संस्कार का जो कार्य किया है, उसमें उनका स्पष्ट संकेत है - "मैं सरल भाषा के लेखक को बहुत बड़ा लेखक मानता हूँ... दूसरी भाषाओं के शब्दों और भावों को ग्रहण कर लेने की शक्ति रखना ही सजीवता का लक्षण है ... हमें केवल यह देखते रहना चाहिए कि

इस सम्मिश्रण के कारण कहीं हमारी भाषा अपनी विशेषता तो नहीं खो रही है, बिगड़कर कहीं वह और कुछ तो नहीं होती जा रही है बस।"

श्यामसुन्दर दास ने भाषा पर स्वतन्त्र रूप से वैज्ञानिक ढंग से विचार किया। भाषा विज्ञान, हिन्दी का विकास, साहित्यालोचन आदि पुस्तकों का सृजन करके उन्होंने खड़ीबोली को गम्भीर लेखन के योग्य सिद्ध किया। विचार गम्भीरता के कारण श्यामसुन्दर दास की भाषा संस्कृतनिष्ठ हो गई है। अपेक्षाकृत गम्भीर साहित्यिक निबन्धों की रचना करके उन्होंने भाषा की विश्लेषण क्षमता को समृद्ध किया।

बालमुकुन्द गुप्त भारतेन्दु युग से ही रचना कर रहे थे। इनकी भाषा का व्यंग्य गहरी-चोट करने वाला है। 'शिवशम्भु शर्मा' के उपनाम से इन्होंने तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था का जीवन्त चित्र अंकित किया है। सरदार पूर्ण सिंह की गद्य-शैली में भावुकता, सहृदयता तथा मस्ती घुलमिल गयी है। उसमें चिन्तन, मनन और तर्क साथ ही भाषा का अनूठा लोच और मार्दव है।

द्विवेदी युग में गद्य की विविध विधाओं का यथोचित विकास हुआ है। निबन्धों में भारतेन्दु युग की अपेक्षा गम्भीरता तथा संयम कुछ अधिक है। द्विवेदी युग में कथा-साहित्य का तेजी से विकास हुआ। इस युग में ऐतिहासिक, सामाजिक, जासूसी, ऐय्यारी-तिलस्मी सभी प्रकार की घटनाओं को लेकर उपन्यास लिखे गये। कविता की तरह उपन्यासों की रचना का मूल उद्देश्य सामाजिक सुधार तथा मनोरंजन है। भारतेन्दु युग के अन्तिम दशकों में उपन्यास का जो आरम्भिक लेखन शुरू हुआ था उसमें पूर्ण दीप्ति इसी युग में आई। द्विवेदी युग के प्रमुख उपन्यासकार हैं मेहता लज्जाराम शर्मा, किशोरीलाल गोस्वामी, ब्रजनन्दन सहाय, गोपालराम गहमरी आदि।

सरस्वती के प्रकाशन का गद्य-शैली के निर्माण भाषा परिष्करण की दृष्टि से महत्त्व तो है ही, कहानी विधा के विकास में गति लाने में भी इसकी भूमिका उल्लेखनीय रही है। सरस्वती में प्रकाशित आरम्भिक कहानियों में भाव प्रतिक्रियाएँ जगाने की क्षमता तो है किन्तु कथानक अत्यन्त सपाट है। कहानी के शिल्प में निखार आता है 'इन्दु' में प्रकाशित कहानियों के माध्यम से, जिनमें जे.पी. श्रीवास्तव, इलाचन्द्र जोशी और प्रसाद जी की आरम्भिक कहानियाँ प्रकाशित हुई थीं। कुलमिलाकर द्विवेदीयुगीन कहानी का ढाँचा घटनात्मक अधिक संवेदनात्मक कम है। इस युग में प्रसाद जी के कुछ आरम्भिक नाटकों को छोड़कर हिन्दी नाटकों की गति प्रायः शिथिल रही।

द्विवेदी युग में आलोचना की दृष्टि नैतिकतावादी रही है। महावीरप्रसाद द्विवेदी की व्यावहारिक समीक्षा-पद्धति से शुक्ल जी की आलोचना पद्धति तक के लिए

इस समय जमीन तैयार हो रही थी। पद्मसिंह शर्मा ने रीति काव्य के निर्माण-कौशल की समीक्षा करके परम्परा से उसका सम्बन्ध देखने का प्रयत्न किया। शर्मा जी ने समीक्षा के मानदण्ड के युगानुकूलता के सिद्धान्त का परिचय दिया। उनमें तुलनात्मक समीक्षा का प्रौढ़ रूप मिलता है। मिश्रबन्धुओं ने आलोचना निर्णयात्मक तथा तुलनात्मक ढंग से की है किन्तु इसका हिन्दी समीक्षा में कोई विशेष योगदान नहीं।

श्रीधर पाठक (सन् 1859-1928 ई०)

आगरा जिले के जोंधरी गाँव में जन्मे श्रीधर पाठक ने हिन्दी के अतिरिक्त इन्होंने अंग्रेजी और संस्कृत का भी अच्छा ज्ञान प्राप्त किया था। सरकारी नौकरी के सिलसिले में उन्हें कश्मीर और नैनीताल की प्राकृतिक शोभा के सन्दर्शन का मौका मिला। ब्रजभाषा और खड़ीबोली दोनों ही भाषाओं पर पाठक जी का अधिकार था और इन्होंने दोनों भाषाओं में कविता की। इनकी ब्रजभाषा सरल और निराडम्बर है - परम्परागत रूढ़ शब्दावली का प्रयोग इन्होंने प्रायः नहीं किया है। खड़ीबोली के ये प्रथम समर्थ कवि माने जाते हैं, यद्यपि इनकी खड़ीबोली में कहीं कहीं ब्रजभाषा के क्रियापद भी प्रयुक्त होते हैं। देशप्रेम, समाज सुधार और प्रकृति-प्रेम इनकी कविता के मुख्य विषय हैं। लेकिन भारतेन्दु कालीन कवियों की भाँति इनकी रचनाओं राष्ट्रभक्ति के साथ साथ राजभक्ति भी मिलती है। 'भारतोत्थान', 'भारत-प्रशंसा' जैसी राष्ट्रभक्तिपूर्ण कविताओं के साथ 'जॉर्ज वन्दना' जैसी राजभक्तिमूलक कविताएँ भी इन्होंने रची हैं। बड़ी निष्ठा के साथ पाठकजी समाज-सुधार सम्बन्धी रचनाएँ भी करते हैं। 'बाल-विधवा' में इन्होंने विधवाओं की पीड़ा का मार्मिक चित्रण किया है, परन्तु इन्हें सर्वाधिक सफलता प्रकृति-चित्रण में मिली। न केवल परिमाण की दृष्टि से बल्कि गुणात्मक दृष्टि से पाठकजी की प्रकृति सम्बन्धी कविताएँ सर्वश्रेष्ठ ठहरती हैं। रूढ़ि का परित्याग कर इन्होंने प्रकृति का स्वतन्त्र, चित्ताकर्षक चित्र प्रस्तुत किया है।

मातृभाषा की उन्नति के बारे में इनका कहना है :

"निजभाषा बोलहु लिखहु पढ़हु गुनहु सब लोग।
करहु सकल विषयन विषैं निज भाषा उपयोग॥"

श्रीधर पाठक एक कुशल अनुवादक भी थे। कालिदास कृत 'ऋतुसंहार'; गोल्डस्मिथ-कृत 'दरमिट', 'डिजर्टेड विलेज' और 'द ट्रैवेलर' का हिन्दी अनुवाद क्रमशः 'एकान्तवासी योगी', 'ऊजड़ ग्राम' और 'श्रान्तपथिक' के नाम से इन्होंने किया था। इनकी मौलिक कृतियों में 'बनाष्टक', 'काश्मीर सुषमा', 'देहरादून' और 'भारत-गीत' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' : (सन् 1865-1947)

उत्तर प्रदेश के आजमगढ़ जिले के निज़ामाबाद में जन्मे हरिऔध ने घर पर ही उर्दू, हिन्दी, फारसी और संस्कृत का ज्ञान अर्जन किया। खड़ीबोली कविता को सशक्त तथा गतिशील बनानेवाले कवियों में 'हरिऔध' जी की भूमिका महत्वपूर्ण रही है। आरम्भ में उन्होंने सरल, सुबोध तथा मुहावरेदार रचनाएँ कीं जो बोलचाल, चुभते-चौपदे में संगृहीत हैं। तत्सम शब्द प्रधान भाषा में पद्य-प्रसून, फूलपत्ते तथा 'वैदेही वनवास' की रचना की तथा संस्कृति की समासान्त क्लिष्ट तत्सम प्रधान भाषा में खड़ीबोली का प्रथम महाकाव्य 'प्रियप्रवास' रचा।

हरिऔध जी में काव्य-सृजन की अनोखी प्रतिभा थी। उपर्युक्त ग्रंथों के अतिरिक्त आपने कबीर कुण्डल, श्रीकृष्ण शतक, प्रेमाम्बुवारिधि, प्रेमाम्बु प्रवाह, प्रेम प्रपंच, उपदेश कुसुम, उद्‌बोधन, ऋतु मुकुर, पुष्पविनोद, विनोद-वाटिका, रसकलस, पारिजात, ग्रामगीत, हरिऔध सतसई आदि की रचना की।

काव्यकार के अलावा हरिऔध उपन्यासकार, नाटककार तथा साहित्येतिहास लेखक भी हैं। 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' और 'अधखिलाफूल' इनके दो उपन्यास हैं और 'रुक्मिणी परिणय' तथा 'प्रद्युम्न विजय' दो नाटक। इनका 'हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास' पटना विश्वविद्यालय में दियेगये भाषणों का संग्रह है। 'रसकलस' की भूमिका लिखकर आपने अपनी आलोचना-शक्ति का परिचय दिया।

खड़ीबोली में ~~एक~~ महाकाव्य के अभाव की पूर्ति केलिए हरिऔध जी ने 'प्रियप्रवास' रचने का बीड़ा उठाया। इन्हें शंका थी कि नयी भाषा-शैली में प्रस्तुत यह काव्य कहीं विद्वानों में विवाद का विषय न हो। इसमें असफल होने पर यह खड़ीबोली की असफलता मानी जायगी। इसलिए उन्होंने काव्य के प्रारम्भ में लम्बी भूमिका लिखकर अपनी स्थिति स्पष्ट कर दी थी। वस्तुतः हरिऔध जी एक ~~प्रवर्त्तन~~ परम्परा के प्रवर्त्तन का श्रेय लेते हुए और कवियों महाकाव्य-निर्माण केलिए प्रोत्साहित करना चाहते थे।

हरिऔध जी ने ब्रजभाषा और खड़ीबोली दोनों में सफलतापूर्वक रचनाएँ की हैं। ब्रजभाषा में 'रसकलस' की रचना की तो 'प्रियप्रवास' और 'वैदेही-~~बिलाप~~ वनवास' की खड़ीबोली में। इनके काव्य में एक ओर सरल और प्रांजल हिन्दी का निरलंकार वर्णन है तो दूसरी ओर संस्कृत की समस्त आलंकारिक वर्णन है। दोनों ही चित्ताकर्षक और हृदयग्राही बनपड़े हैं। कई ग्रंथों में मुहावरों और बोलचाल के शब्दों का सौन्दर्य है तो

कहीं इससे पूर्णतरह मुक्त भाषा-शैली का चमत्कार है। कहीं वर्णनात्मक शैली का प्रवाह है तो कहीं चित्रात्मक शैली का समाहार है। द्विवेदी युगीन भाषा की कर्कशता को सरसता में बदलने का बहुत बड़ा श्रेय हरिऔध जी को है। हरिऔध जी ने अनुकान्त कविता की परम्परा का विश्लेषण करके अपने द्वारा उस मार्ग को अपनाये जाने का औचित्य सिद्ध किया। संस्कृत वर्णवृत्तों की ओर अभिजात रुचि को ध्यान में रखकर इन्हीं छन्दों को 'प्रियप्रवास' में प्रयोग किया गया।

'प्रियप्रवास' की कथा श्रीकृष्ण के मथुरा गमन से सम्बन्धित है। कृष्ण के विरह से पीड़ित गोप और गोपीजन कृष्ण का गुणगान करते हुए ब्रज पर आनेवाले विविध संकटों तथा आपत्तियों का जिक्र करते हुए कृष्ण के बल, कौशल तथा बौद्धिक शक्ति का विवेचन करते हैं। कवि यशोदा, नन्द, राधा आदि के विरह भाव की मार्मिकता को उद्घाटित करने में अधिक रुचि लेता है। इसमें परम्परागत कृष्ण-कथा के कुछ प्रसंगों को तर्क सम्मत बनाने के लिए उनकी बौद्धिक व्याख्या की गई है। जैसे, कृष्ण के द्वारा गोवर्द्धन पर्वत उठाने की अतिरंजित कथा को कवि ने परिवर्तित कर कृष्ण द्वारा बड़ी कुशलता से गिरि की कन्दराओं में गोप-गोपियों तथा गायों को बसा दिया है।

हरिऔध ने कृष्णलीला को लोकोद्धारक कार्य के रूप में प्रतिष्ठित किया है। श्रीकृष्ण का चरित्र युगानुकूल प्रस्तुत किया गया है। वे ब्रह्म न होकर महापुरुष, लोकसेवक तथा परोपकारी नेता बन गये हैं। राधा में भी नवजागरण की चेतना से सम्पृक्त नारी का आरोपण किया गया है। वह रूप-गुण, कान्ति से सम्पन्न होते हुए अपनी विरह-वेदना को चुपचाप सहने के लिए तैयार है। वह अपनी आत्मिक पीड़ा को नगण्य समझती है। उनके लिए जनसेवा का व्रत अधिक मूल्यवान रहता है। राधा के चारित्रिक व्यक्तित्व में कवि एक नया आयाम जोड़ता है। एक ही छन्द में राधा का पुराना और नया रूप एक साथ व्यंजित होता है -

प्यार आवे सु-वचन कहें प्यार से गोद लेवें।
ठंढे होवें नयन-दुख हों दूर मैं गोद पाऊँ।
ये भी है भाव सम उर के और ये भाव भी हैं।
प्यारे जीवें जग-हित करें गेह-चाहे न आवें॥

इसमें नवधा-भक्ति की एक नई परिभाषा प्रस्तुत की गई है। परपीड़ा का ध्यान, स्मरण, भक्ति, भूखे को भोजन देना, अर्चना ही भक्ति है। नन्द और यशोदा के वात्सल्य-भाव को भी इस काव्य में नये ढंग से अधिक ध्यान देकर चित्रित किया गया है।

प्रियप्रवास में प्रकृति-चित्रण वैविध्यपूर्ण तथा चित्ताकर्षक है। प्रत्येक सर्ग का प्रारम्भ प्रकृति-चित्रण के साथ होता है। प्रकृति कहीं चेतन रूप में, कहीं रहस्यात्मक रूप में, कहीं आलम्बन रूप में और कहीं उद्दीपन रूप में प्रकट होती है। ऋतु वर्णन के संदर्भ में प्रकृति का जीवन्त चित्र अंकित

हुआ है। प्रकृति प्राय: भाव की भूमिका तथा परिवेश का निर्माण करती है। प्रकृति के विविध दृश्यों के चित्रण में कवि प्राय: यथातथ्य वर्णन तक ही सीमित रहा है। प्रकृति जहाँ भावावेग तथा भावाभिव्यक्ति का माध्यम बनती है, वहाँ उसकी प्रभविष्णुता तीव्र हो जाती है।

प्रियप्रवास की भाषा संस्कृत गर्भित खड़ीबोली है, पर कहीं कहीं विभक्तिरहित संस्कृत की छटा से खड़ीबोली की स्वाभाविकता व्याहत होती है। भाषा में शब्द-मैत्री तथा प्रभावोत्पादकता है। यत्र-तत्र मुहावरों का प्रयोग किया गया है। फिर भी भाषा पूरीतरह ब्रजभाषा के प्रभाव से मुक्त नहीं है।

मैथिली शरण गुप्त (सन् 1886-1964 ई.)

उत्तर प्रदेश के चिरगाँव (झाँसी) में जन्मे मैथिलीशरण गुप्त द्विवेदी युग के सबसे लोकप्रिय एवं ख्यातिलब्ध कवि थे। राष्ट्रभक्ति एवं रामभक्ति इन्हें विरासत में मिली थी। इन्होंने भारतीय सांस्कृतिक चेतना को समग्रता तथा व्यापकता से काव्य के अन्तर्गत प्रस्तुत किया। आरम्भिक रचनाएँ साधारण कोटि की थीं। जब से गुप्तजी का परिचय महावीर प्रसाद द्विवेदी जी से हुआ, उनका साहित्यिक व्यक्तित्व ही बदल गया। द्विवेदी जी के आदेश और उपदेश तथा स्नेहमय प्रोत्साहन से उनकी काव्यकला में निखार आया। द्विवेदी जी के ही मार्गदर्शन में गुप्त जी की रचनाएँ 'सरस्वती' में छपने लगीं। उन्हें वे अपना गुरु मानते थे। गुप्त जी की प्रथम काव्यग्रंथ 'रंग में भंग' सन् 1909 में प्रकाश में आया, पर सन् 1912 में प्रकाशित 'भारत-भारती' से ही उन्हें लोकप्रियता प्राप्त हुई। इस ग्रंथ के जरिए उन्होंने हिन्दी-भाषियों में जाति और देश के प्रति गर्व और गौरव की भावनाएँ प्रबुद्ध कीं और तभी से राष्ट्रकवि के रूप में विख्यात हुए।

प्रबन्ध काव्य की प्राचीन परम्परा को जीवित रखने तथा उन्हें परिपुष्ट करके अग्रसर करने में गुप्त जी का सराहनीय योगदान है। इन्होंने पौराणिक तथा ऐतिहासिक कथाओं एवं घटनाओं की काव्यात्मक पुनरावृत्ति नहीं की बल्कि आधुनिक जीवन के अनुकूल उन्हें नूतन अर्थ प्रदान किया। 'साकेत' नामक महाकाव्य में राम का पारम्परिक चरित समसामयिक संवेदना से संयुक्त होकर राष्ट्रीय मुक्ति के लिए संघर्ष रत भारतीयों के लिए प्रेरणा-शक्ति बन गया। 'साकेत' के अतिरिक्त यशोधरा, पंचवटी, झंकार,

यशोधरा, द्वापर, जयभारत, विष्णुप्रिया इत्यादि इनकी श्रेष्ठ कृतियाँ हैं। 'साकेत' और 'जयभारत' महाकाव्य हैं। गुप्त जी मुख्यतः प्रबन्धकार हैं।

'साकेत' - रामकाव्य की परम्परा में 'साकेत' एक अनुपम कड़ी है। विश्वकवि रवीन्द्रनाथ का लेख 'काव्येर उपेक्षिता' से प्रेरित होकर महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' में लिखा 'कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता' शीर्षक लेख। गुरु जी के इस लेख में निहित अप्रत्यक्ष आदेश को शीतेधार्य कर मैथिली शरण ने रामकथा की त्यागमयी मूर्ति उर्मिला को केन्द्रीय चरित्र बनाकर आधुनिक संवेदना को 'साकेत' के जरिए अभिव्यक्ति दी। मध्यकालीन भक्ति-भाव की संवाहक कथा आधुनिक जीवन की बुद्धि संगत मानवीय संघर्ष कथा से संस्पर्शित हो गई। भारतीय मुक्ति आन्दोलन की व्यापक जनजागृति से समानान्तर रामकथा के निष्क्रिय पात्र भी सक्रिय हो गये। 'साकेत' के सन्दर्भ में प्रख्यात आलोचक नन्द दुलारे वाजपेयी लिखते हैं - "साकेत' में प्रथमबार मानव का उत्कर्ष अपनी चरम सीमा पर - ईश्वर के समकक्ष - लाकर रखा गया है, जो मध्ययुग में किसी प्रकार सम्भव न था। साकेत इसी कारण हिन्दी की प्रथम मानवता आदर्शवादी या आदर्श मानवतावादी रचना कही जा सकती है।"

प्रख्यात रामकथा ही साकेत की कथावस्तु है। जिस कथा को वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति और तुलसी दास ने अपने अपने ढंग से सृजित किया था, उसी रामकथा की अनन्यता में से गुप्तजी ने अपने महाकाव्य के लिए कथा का संचयन, संयोजन करके उसे अभिनव आयाम दिया। साकेत की कथावस्तु में वाल्मीकि रामायण का प्रभाव, तुलसी के दर्शन की प्रेरणा और भवभूति की करुणा का समावेश है।

इनकी कथावस्तु प्राचीन इतिवृत्तों का संग्रह तथा अनुकृति मात्र नहीं है। इसकी कथा का आरम्भ उर्मिला-लक्ष्मण के संवाद से होता है जिससे अभिषेक विषयक तैयारियों की सूचना मिलती है। अभिषेक, कैकेयी-मंथरा संवाद, विदा प्रसंग, निषाद मिलन, दशरथ मरण, भरत आगमन, चित्रकूट मिलाप आदि घटनाएँ तथा प्रसंग प्रत्यक्ष रूप से चित्रित किये गये हैं। लेकिन सूर्पणखा की कहानी, खरदूषण

वध आदि उप-कथाएँ शत्रुघ्न द्वारा व्यापारी की सूचना के आधार पर प्रस्तुत की गई हैं। इसीतरह लक्ष्मण शक्ति की घटनाएँ हनुमान के द्वारा भरत को सुनाई जाती है। शेष रामकथा वशिष्ठ योग के द्वारा प्रत्यक्ष करते हैं।

पारम्परिक कथा में कवि ने अनेक मौलिक उद्‌भावनाएँ भी की हैं - उर्मिला के व्यक्तित्व का रेखांकन, राम के अवतार लेनेके उद्देश्य में मौलिक परिवर्तन, कैकेयी का अनुताप, साकेतवासियों का प्रणत विद्रोह, लक्ष्मण को शक्ति लगने की सूचना पाकर साकेतवासियों का युद्ध केलिए तैयार होना आदि। 'साकेत' की कथा बारह सर्गों में विभाजित है। कथारम्भ मंगलाचरण से होता है और अन्त में भरत वाक्य सहित भोक्ता के फलागम द्वारा कथा का सुखान्त समापन होता है।

नवजागरणवादी रचनात्मक भावना की प्रेरणा से गुप्त जी उर्मिला के चरित्र को प्रस्तुत करना चाहते थे, किन्तु व्यक्ति की अपेक्षा राष्ट्र की महत्ता उनके मन में इस कदर हावी थी कि उन्हें 'साकेत' नाम अधिक अर्थवान और युगानुकूल प्रतीत हुआ।

साकेत में उदात्त चरित्रों की सृष्टि की गई है। पात्रों का चरित्र-चित्रण व्यंजनात्मक, सांकेतिक तथा प्रभावोत्पादक है। गुप्तजी के अधिकांश पात्र अपने भाव के आदर्श हैं। गुप्तजी राम को मानवीय भूमिका में अवतरित करने की कोशिश तो करते हैं, लेकिन उनकी वैष्णवी भावना आधुनिक भावबोध से प्रकार्यात्मक ढंग से उन्हें जोड़ नहीं पाती वे कहीं भी धरती को स्वर्ग बनाने की दिशा में कार्य नहीं करते। उनका चरित्र-चित्रण परम्परा से बहुत अलग नहीं हो पाता। वैचारिक स्वतन्त्रता, सह-अस्तित्व की भावना, सर्वजन हितार्थ समाजवादी दृष्टि तथा धर्म स्वातन्त्र्य आदि के प्रति वे बेबाक विचार प्रस्तुत करते हैं।

साकेत में उर्मिला के व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा गुप्त जी की मौलिक देन है। उसके माध्यम से त्यागमयी आदर्श भारतीय नारी का चित्र साकार हो जाता है। उसकी करुणा को विस्तार देकर कवि ने उपेक्षित नारी के प्रति युग संवेदना को मोड़ने का प्रयत्न किया है। उर्मिला की भाँति कैकेयी को अतीत की सीमित परिधि से निकाल कर मानवीय संवेदना के व्यापक क्षितिज पर प्रतिष्ठित किया गया है। युग युग से अभिशप्त कैकेयी साकेत में ममतामयी माँ के गौरवशाली पद पर अधिष्ठित होती है। राम-कथा के स्रोत ग्रंथों में कैकेयी में कुटिलता, क्रूरता और दुष्टता को ही आरोपित किया गया है, साकेत में वह ममत्व की प्रज्वलित दीप-शिखा बन जाती है। वह आध्यात्मिक तथा नैतिक आग्रहों से अलग

भौतिक जगत की सफलताओं के प्रति अधिक सचेष्ट है। उसकी मानवीय दुर्बलताओं को मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में देखा गया है। उसकी निश्छल खुशियों का भाव खलबली मचा देता है जिससे उसको दशरथ के नीयत पर संदेह हो जाता है। आशंकाग्रस्त उसका मन खोटी स्थितियों से विद्रोह कर उठता है। परिणामतः वह दोनों वरदान माँग लेती है। चित्रकूट सभा में उसकी आत्मग्लानि उसके प्रति विशेष संवेदनुभूति जगा देती है।

गुप्त जी का दूसरा महाकाव्य है 'जय भारत' (1952 ई०)। इसमें पुराने आदर्शों की पुनरावृत्ति की गई है। 'नर में नारायण की प्रतिष्ठा', सभी लोगों के सुख की कामना, अबला जीवन की कहानी, वैष्णव दृष्टि प्रसूत विकृत अर्थापन द्वारा जो कुछ निर्मित हुआ है वह पाँचवें दशक की संशयात्मक दृष्टि के विरुद्ध है। नए युग में विगत आदर्शों की स्थापना उनकी उत्थानमूलक पुरानी दृष्टि के अनुरूप है।

गुप्तजी मूलतः राष्ट्रीय भावना के पोषक कवि हैं। द्विवेदी युग की जीवन-दृष्टि, राष्ट्रीय चेतना तथा काव्य संवेदना का जीवन्त इतिहास इनकी काव्य-कृतियाँ हैं। 'भारत-भारती' इनकी ऐसी राष्ट्रीयतावादी रचना है, जो अपने युग में अत्यधिक लोकप्रिय हुई, जिससे जनसाधारण के लिए विशेष प्रोत्साहन मिला।

द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' पत्रिका में 'कवि और कविता' नामक लेख में कवि-जगत को आह्वान किया था कि वे राष्ट्रीय महत्व का एक ऐसा ग्रंथ लिखें नवजागरण के चलते हिन्दू धर्म और संस्कृति के पुनरुत्थान का स्वर प्रस्फुटित होता हो। अतीत के समक्ष वर्तमान की दुरवस्था का अंकन, समसामयिक समस्याओं की सीमितता इस काव्य की भी सीमा बनजाती है। लेकिन खड़ीबोली की भाषिक क्षमता के उद्घाटन तथा समकालीन चेतना की अभिव्यंजना के कारण इसका ऐतिहासिक महत्व असंदिग्ध हो जाता है।

रामनरेश त्रिपाठी (1889-1962 ई.)

जौनपुर के अन्तर्गत कोइरीपुर गाँव में जन्मे रामनरेश त्रिपाठी की शिक्षा नवीं कक्षा से आगे नहीं चल पायी। पहले ब्रजभाषा में लिखते थे, फिर 'सरस्वती' पत्रिका के प्रभाव से खड़ीबोली में लिखने लगे। त्रिपाठी के चार काव्य प्रकाशित हुए - 'मिलन', 'पथिक', 'मानसी' और 'स्वप्न'। 'मानसी' इनकी फुटकर कविताओं का संग्रह है जो मुख्यतः देशभक्ति, प्रकृति-चित्रण और नीति-निरूपण से सम्बद्ध है। शेष तीनों काव्य काल्पनिक कथाश्रित प्रेमाख्यानक खण्डकाव्य हैं। तीनों में व्यक्तिगत सुख और स्वार्थ छोड़ कर देश के लिए सर्वस्व न्यौछावर करने की प्रेरणा दी गई है। इन प्रबन्ध-काव्यों में यथास्थान प्रकृति के भी मनोरम

चित्र मिलते हैं। कवि होने के साथ साथ त्रिपाठी जी सहृदय संपादक भी थे। 'कविता-कौमुदी' के आठ भागों में इन्होंने बड़ी योग्यता से हिन्दी, उर्दू, बंगला एवं संस्कृत की कविताओं का संकलन और संपादन किया है। लोकगीतों का संग्रह भी इन्होंने बड़ी लगन और परिश्रम से किया है, इस कार्य के लिए उन्हें खूब पर्यटन करना पड़ा।

प्रकृति सम्बन्धी त्रिपाठी जी की कविता का एक उदाहरण है -

प्रतिक्षण नूतन वेश बनाकर रंग बिरंग निराला।
रवि के सम्मुख थिरक रही है नभ में वारिदमाला॥
नीचे नील समुद्र मनोहर ऊपर नील गगन है।
घन पर बैठ बीच में बिचरत यही चाहता मन है॥

द्विवेदी युगीन अन्य प्रमुख कवियों में नाथूराम शर्मा शंकर, राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', रामचरित उपाध्याय, गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही', बालमुकुन्द गुप्त, भगवान दीन, अमीर अली 'मीर', कामता प्रसाद गुरु, गिरिधर शर्मा 'नवरत्न', रूपनारायण पाण्डेय, लोचन प्रसाद पाण्डेय, गोपालशरण सिंह, मुकुटधर पाण्डेय आदि के नाम बड़े आदर से लिये जाते हैं।

द्विवेदी युगीन गद्य-साहित्य :

द्विवेदीयुगीन गद्य के विकास के पीछे तत्कालीन सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना का महत्त्व कम नहीं है। इस समय एक ओर विदेशी प्रशासन के प्रति जनता के मन में असन्तोष बढ़ रहा था। दूसरी तरफ हमारी राष्ट्रीय चेतना क्रमशः विकसित होती हुई स्वाधीनता-प्राप्ति को लक्ष्य-सिद्धि पर केन्द्रित हो गई जिसकी अभिव्यक्ति प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से इस युग के साहित्य में हमारा ध्यान आकृष्ट करती है। आर्थिक एवं धार्मिक क्षेत्र में भी अनुरूप क्रान्तिकारी परिवर्तन संघटित हुए। यद्यपि आलोच्य काल में आर्य समाज और सनातन धर्म दोनों का द्वन्द्व चल रहा था, किन्तु यह निर्विवाद है कि धार्मिक-सामाजिक क्षेत्र में क्रमशः उदारता और सहिष्णुता की भावनाएँ फैलती जा रही थीं। यह राजनैतिक जागरूकता, आर्थिक समझदारी, सामाजिक-धार्मिक उदारता तथा राष्ट्रप्रेम मुख्यतः शिक्षित मध्य वर्ग की जनता की जागरण का परिणाम था। यही वर्ग समाज को सभी क्षेत्रों में नेतृत्व प्रदान करता था और साहित्य में इसी की अभिव्यक्ति करता था। यह वर्ग सर्वाधिक संवेदनशील था। साहित्यकारों के मन पर राष्ट्र की प्रत्येक महत्त्वपूर्ण घटना का प्रभाव पड़ता था और उन सबकी रचनाओं में प्रतिबिम्बित होती थी। यही कारण है कि इस काल के गद्य-साहित्य की प्रत्येक विधा में

अन्तर्निहित चेतना एक ही है और वह व्यापक राष्ट्रीय जागरण एवं सुधार की भावना से संम्बद्ध है।

द्विवेदी युग में भाषा के परिष्करण का प्रयत्न किया गया है। इस युग में हिन्दी भाषा का अन्तर्प्रान्तीय प्रसार होने के कारण प्रान्तीय भाषाओं का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। द्विवेदी युग के लेखकों में संस्कृत के प्रति कुछ अतिरिक्त उत्साह दृष्टिगत होता है। भाषा को व्याकरणसम्मत बनाने की चेष्टा की गई। ग्रहण और निर्माण की प्रक्रिया के कारण भाषा में शैलीगत एकता अभी स्थापित नहीं हो पायी है। उसमें संग्रह पर आग्रह है, विश्लेषण पर नहीं, अवस्था पर जोर है, उद्भावना पर नहीं, सरलता पर जोर है, जटिल भावाभिव्यक्ति पर नहीं। किन्तु उस समय की इस उपलब्धि का ऐतिहासिक महत्त्व है। महावीरप्रसाद द्विवेदी, श्यामसुन्दर दास, बालमुकुन्द गुप्त, माधव प्रसाद मिश्र, सरदार पूर्ण सिंह आदि ने गद्य-शैली के निर्माण में योग दिया है। द्विवेदी जी सरल भाषा के लेखक को सबसे बड़ा लेखक मानते हैं। उनके अनुसार, "दूसरी भाषाओं के शब्दों और भावों को ग्रहण लेने की शक्ति रखना ही सजीवता का लक्षण है।" इस सम्मिश्रण में हमारी भाषा की विशेषता, उसकी अस्मिता खण्डित न हो जाय, यही देखना है। 'भाषा-विज्ञान', 'हिन्दी का विकास', 'साहित्यालोचन' आदि पुस्तकों का सृजन करके श्यामसुन्दर दास ने खड़ीबोली को गम्भीर लेखन के योग्य सिद्ध किया। विचार गम्भीरता के कारण उनकी भाषा संस्कृतनिष्ठ हो गई है। अपेक्षाकृत गम्भीर साहित्यिक निबन्धों की रचना करके इन्होंने भाषा की विश्लेषण-क्षमता को समृद्ध किया।

भारतेन्दु युग से ही निरन्तर कलम चलाने वाले बालमुकुन्द गुप्त एक सशक्त व्यंग्यकार के रूप में चर्चित हैं। तत्कालीन सामाजिक-राजनीतिक विसंगतियों पर चोट करने के लिए वे शिवशम्भु शर्मा के छद्मनाम से भी लिखते थे। सरदार पूर्ण सिंह की गद्य-शैली नये तेवर और वस्तु-संगठन की सूचक है। इनकी शैली में भावुकता, सहृदयता तथा मस्ती घुल-मिल गई है। उसमें चिन्तन, मनन और तर्क के साथ ही भाषा का अनूठा लोच और मार्दव है।

द्विवेदी युग में गद्य की विविध विधाओं का यथोचित विकास हुआ है। निबन्धों में भारतेन्दु युग की अपेक्षा इस युग में गम्भीरता तथा संयम कुछ अधिक है। लेकिन द्विवेदी युगीन लेखकों में वह आत्मीयता, अनौपचारिकता और सजीवता नहीं रह गई, जो भारतेन्दु युगीन लेखकों में थी। अतः इस युग में कम निबन्ध

लिखे गये।

भारतेन्दु युग में पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से निबन्ध-साहित्य की पूर्ण प्रतिष्ठा हो चुकी थी। उसकी तुलना में द्विवेदी युग में व्यक्तित्व-व्यंजक निबन्धों की परम्परा का ह्रास परिलक्षित होता है। लेखकों का ध्यान ज्ञान के विविध क्षेत्रों से सामग्री-संचय की ओर अधिक गया, आत्मव्यंजना की ओर कम। इस युग के निबन्धकारों में महावीर प्रसाद द्विवेदी, गोविन्द नारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, माधव प्रसाद मिश्र, मिश्रबन्धु, सर्दार पूर्ण सिंह, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, श्यामसुन्दर दास, पद्मसिंह शर्मा, रामचन्द्र शुक्ल, कृष्ण विहारी मिश्र आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। महावीर प्रसाद द्विवेदी के बहुसंख्यक निबन्ध परिचयात्मक या आलोचनात्मक टिप्पणियों के रूप में हैं। उनमें आत्म-व्यंजना का तत्व नगण्य है। कहीं कहीं आक्रोश या क्षोभ में आकर जब उन्होंने अनुचित कार्यों का प्रतिकार करना चाहा है, तब व्यंग्य रूप में उनकी आन्तरिक भावना प्रकट हो गई और उनकी न्यायनिष्ठ आत्मा की झलक मिल जाती है। गोविन्द नारायण मिश्र अपनी पाण्डित्य-पूर्ण, संस्कृतनिष्ठ, तत्सम प्रधान, समासबहुला, दीर्घ वाक्यविन्यासपूर्ण गद्य-शैली के लिए स्मरणीय हैं। गुलेरी जी पुरातत्व के मान्य विद्वान थे, किन्तु कहानी और निबन्ध के क्षेत्र में भी उनका स्थान महत्वपूर्ण है। उनके निबन्धों में मार्मिक व्यंग्य, पाण्डित्य की छाप और व्यक्तित्व का आकर्षण है। उनकी भाषा प्रौढ़, परिमार्जित और विषयानुकूल है। रामचन्द्र शुक्ल के आरम्भिक निबन्धों में भाषा सम्बन्धी प्रश्नों और कुछ ऐतिहासिक व्यक्तियों के सम्बन्ध में विचार व्यक्त किये गये हैं। उनके श्रेष्ठ मनोवैज्ञानिक निबन्ध 1912 ई. से 1919 ई. तक प्रकाशित हुए थे। गम्भीर विचार-सूत्रों को आदि से अन्त तक अटूट रखकर भी उन्हें ने व्यक्तित्व-व्यंजना के लिए अवसर निकाल लिया है। उन्होंने प्रतिपाद्य विषय से सम्बद्ध आनुषंगिक विषयों की चर्चा करके विचारों के कलाव को थोड़ा हल्का कर दिया है और व्यक्तित्व की झलक दिखा दी है। शुक्ल जी निश्चय ही हिन्दी-निबन्ध-साहित्य के क्षेत्र में नवीन युग के प्रवर्त्तक हैं।

द्विवेदी-युग में समाज की दीनावस्था, आर्थिक विषमता, धार्मिक पतन और व्यापक राष्ट्रीय समस्याओं को दृष्टि में रखकर निबन्ध लिखे गये, किन्तु विषय-प्रधानता के कारण वे सच्चे निबन्धों की श्रेणी में नहीं आते। शैली की दृष्टि से इस युग में वर्णनात्मक, भावात्मक, विवरणात्मक, विचारात्मक, कथात्मक, बोधात्मक आदि सभी शैलियों के निबन्ध लिखे गये। युग की व्यापक सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना के अध्ययन की दृष्टि से उनका महत्व अवश्य मान्य है।

द्विवेदी-युग में हिन्दी आलोचना का गम्भीर एवं तात्त्विक रूप तो नहीं निखरा, उनकी कई महत्त्वपूर्ण पद्धतियाँ अवश्य विकसित हुई। सामान्यतः हिन्दीआलोचना के पाँच रूप लक्षित किये जाते हैं - शास्त्रीय आलोचना, तुलनात्मक मूल्यांकन एवं निर्णय, अन्वेषण एवं अनुसंधानपरक आलोचना, परिचयात्मक आलोचना एवं व्याख्यात्मक आलोचना।

द्विवेद-युगीन आलोचना-दृष्टि मुख्यतः नैतिकतावादी रही है। महावीर प्रसाद द्विवेदी की व्यावहारिक समीक्षा पद्धति से शुक्लजी की आलोचना पद्धति के लिए जमीन तैयार होती है। पद्मसिंह शर्मा ने रीति-काव्य के निर्माण-कौशल की समीक्षा करके परम्परा से उसका सम्बन्ध देखने का प्रयत्न किया। शर्मा जी ने समीक्षा के मानदण्ड के युगानुकूलता के सिद्धान्त का परिचय दिया है। उनमें तुलनात्मक समीक्षा का प्रौढ़ रूप मिलता है। मिश्र बन्धुओं ने आलोचना निर्णयात्मक तथा तुलनात्मक ढंग से की है। किन्तु इसका हिन्दी समीक्षा में कोई विशेष योगदान नहीं है। द्विवेदीयुग के प्रमुख शैलीकारों में बालमुकुन्द गुप्त, एवं श्यामसुन्दर दास के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। गुप्त जी ने शिवशंभु शर्मा उपनाम से व्यंग्यात्मक शैली में लॉर्ड कर्जन को जो पत्र लिखे, वे पत्रात्मक शैली में सर्वश्रेष्ठ निबन्ध कहे जा सकते हैं; श्यामसुन्दर जी की शैली सामान्यतः संगठित तथा अवस्थित है। जहाँ विचारों का गम्भीर प्रतिपादन है, वहाँ भाषा कुछ क्लिष्ट अवश्य है, पर दुर्बोध्य नहीं।

आलोच्य काल कथा-साहित्य की दृष्टि से अपेक्षाकृत समृद्ध है, किन्तु इस क्षेत्र में लेखकों और पाठकों की प्रवृत्ति कुतूहल, रहस्य और रोमांच के माध्यम से मनोरंजन करने में अधिक रही। सामाजिक जीवन की यथार्थ समस्याओं को लेकर गंभीर उपन्यासों की रचना इस युग में कम हुई। रहस्यमयी अद्भुत घटनाओं को ~~लेकर~~ शृंखलाबद्ध करके एक अपरिचित संसार में पाठकों को भटकाते रहना लेखकों का प्रधान लक्ष्य प्रतीत होता है। प्रवृत्ति भेद के आधार पर द्विवेदीयुगीन उपन्यासों को पाँच वर्गों में रखा जा सकता है - तिलस्मी-ऐय्यारी उपन्यास, जासूसी उपन्यास, अद्भुत घटना प्रधान उपन्यास, ऐतिहासिक उपन्यास और सामाजिक उपन्यास। तिलिस्मी-ऐय्यारी में देवकीनन्दन खत्री, हरकृष्ण जौहर, किशोरीलाल गोस्वामी, रामलाल वर्मा एवं दुर्गाप्रसाद खत्री के नाम उल्लेखनीय हैं। जासूसी में गोपालराम गहमरी, रामलाल वर्मा, किशोरीलाल गोस्वामी और जयरामदास गुप्त के उपन्यास लोकप्रिय रहे हैं। अद्भुत घटनाप्रधान उपन्यासकारों में विट्ठलदास नागर, बाँकेलाल चतुर्वेदी, विट्ठलचन्द वर्मा, प्रेमविलास वर्मा और दुर्गा प्रसाद खत्री प्रसिद्ध रहे हैं।

द्विवेदी-युग के ऐतिहासिक उपन्यास प्रायः मोगल काल के इतिहास से सामग्री लेकर लिखे गये। इनमें इतिहास-तत्व कम है, पर इतिहास से ऐसी घटनाओं को लेकर कल्पना का समावेश किया जिससे तत्कालीन पाठक के कुतूहल एवं दृश्य-रोमांच-वृत्ति को तृप्त किया जा सके। किशोरीलाल गोस्वामी, गंगा प्रसाद गुप्त, जयरामदास गुप्त और मथुराप्रसाद शर्मा इस काल के उल्लेखनीय ऐतिहासिक उपन्यासकार हैं। इस युग के सामाजिक उपन्यासकारों में मेहता लज्जाराम शर्मा, किशोरीलाल गोस्वामी, अयोध्यासिंह उपाध्याय, ब्रजनन्दन सहाय, राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह, सुदर्शन द्विवेदी आदि के नाम स्मरणीय हैं। आलोच्यकालीन सामाजिक उपन्यासों में सुधारवादी जीवन-दृष्टि ही प्रधान है। किशोरीलाल गोस्वामी, लज्जाराम शर्मा और गंगाप्रसाद गुप्त सनातन धर्म के समर्थक थे। आर्य समाज के नवीन सुधारवादी आन्दोलन के विरुद्ध होते हुए भी ये लेखक नैतिक जीवन-दृष्टि की प्रतिष्ठा चाहते थे। गोस्वामी जी ने सती साध्वी देवियों के आदर्श प्रेम के साथ ही अवैध-प्रेम, विधवाओं के अभिचार, वेश्याओं के कुत्सित जीवन और देवदासियों की विलास-लीला का भी चित्रण किया है। उनका उद्देश्य था नारकीय जीवन के दुष्परिणाम दिखाकर लोगों को उच्च नैतिक जीवन में प्रवृत्त करना।

आलोच्य युगीन सामाजिक उपन्यासों की परम्परा ने ही आगेचलकर प्रेमचन्द सरीखे उपन्यासकारों की उपन्यास-रचना के लिए पृष्ठभूमि तैयार कर दी। इसी समय प्रेमचन्द के 'प्रेमा', 'रूठी रानी' और 'सेवासदन' ~~प्रकाश~~ उपन्यास प्रकाश में आये। इन उपन्यासों में सुधार की प्रवृत्ति प्रधान है। प्रेमचन्द ने शस्ता मनोरंजन की जगह सुरुचिपूर्ण प्रसंगों की उद्भावना पर बल दिया। उन्होंने घटना के स्थान पर चरित्र को उभारने की चेष्टा की, जीवन की वास्तविक समस्याओं को केन्द्र में रखा और क्रमशः कथा-प्रसंगों को मध्यवर्ग के तत्कालीन जीवन-प्रवाह के साथ जोड़ दिया। प्रेमचन्द अंग्रेजी उपन्यासकारों की रचना-दृष्टि से परिचित थे और उन्होंने ठीक समय पर हिन्दी उपन्यास को एक नया मोड़ दिया।

हिन्दी कहानी का श्रीगणेश द्विवेदी-युग में 'सरस्वती' पत्रिका के साथ हुआ। पत्रिका के प्रकाशन के साथ सन् 1900 ई. में किशोरीलाल गोस्वामी की 'इन्दुमति' कहानी प्रकाशित हुई। शेक्सपियर के 'टेम्पेस्ट' नाटक की कथावस्तु के आधार पर रची गई इस कहानी की मौलिकता पर प्रश्न चिन्ह लग गया था। सन् 1902 में 'सरस्वती' में भगवानदीन की कहानी 'प्लेग की चुड़ैल' छपी। साल भर बाद 'सरस्वती' में ही रामचन्द्र शुक्ल की कहानी 'ग्यारह वर्ष का समय' प्रकाशित हुई। सन् 1907 में बंगमहिला की 'दुलाईवाली' भी 'सरस्वती' में आई। सन् 1909 में वृन्दावनलाल वर्मा ने 'राखीबन्द भाई' लिखकर ऐतिहासिक कहानी को जन्म दिया। सन् 1909 में ही काशी से 'इन्दु' नामक मासिक पत्रिका निकली, जिसमें 1911 ई. में जयशंकर प्रसाद रचित 'ग्राम' कहानी छपी। फिर उनकी कई और भावात्मक कहानियाँ इस पत्रिका में प्रकाशित हुई, जिनका संग्रह 'छाया' नाम से प्रकाश में आया। राधिकारमण प्रसाद सिंह की भावपूर्ण कहानी 'कानों में कंगना' 'इन्दु' ही में प्रकाशित

हुई सन् 1913 में। इस समय तक प्रेमचन्द की कुछ कहानियाँ उर्दू में 'जमाना' पत्रिका में प्रकाशित हो चुकी थीं। उर्दू में अधिक यश और धन की सम्भावना न देख कर उन्होंने हिन्दी में कहानी लिखना शुरू किया। 'सरस्वती' में प्रकाशित उनकी कहानियाँ हैं - सौत, पंचपरमेश्वर, सज्जनता का दण्ड, ईश्वरीय न्याय और दुर्गा का मन्दिर। द्विवेदी-युग में इन्हीं कहानियों से प्रारम्भ हुई उनकी कथा-यात्रा आगे चलकर आकाश छूने लगी। चन्द्रधर शर्मा गुलेरी जी की प्रसिद्ध कहानी 'उसने कहा था' सन् 1915 में 'सरस्वती' में ही प्रकाशित हुई। उसी में ज्वालादत्त शर्मा की 'मिलन'; विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' की 'रक्षाबन्धन'; पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की 'झलमला' जैसी लोकप्रिय कहानियाँ भी प्रकाशित हुई थीं। सन् 1918 में काशी से प्रकाशित मासिक पत्र 'हिन्दी गल्पमाला' में जयशंकर प्रसाद की कहानियाँ नियमित छपती रहीं। इसी पत्रिका में गंगाप्रसाद श्रीवास्तव और इलाचन्द्र जोशी की प्रारम्भिक कहानियाँ भी छपी थीं।

द्विवेदी-युग में ही हिन्दी कहानी का जन्म होकर धीरे धीरे प्रतिष्ठित भी हो गई थी। यह इतनी जल्दी इसलिए सम्भव हुआ कि भारतीय जन-मानस में मौखिक कथा-वाचन की एक परम्परा बनी हुई थी। पाश्चात्य कहानी-कला से परिचित होते ही वह संस्कार जाग उठा और हिन्दी में कलापूर्ण कहानियों की सृष्टि आरम्भ हो गई। इस क्षेत्र में प्रेमचन्द और प्रसाद ने दो भिन्न प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व किया। प्रेमचन्द मुख्यतः सामाजिक समाज के दुःख-दर्द, हार-जीत, और न्याय-अन्याय की कहानी कह रहे थे और वह भी बोलचाल की, मुहावरेदार, चुस्त और सजीव भाषा में। इसके विपरीत प्रसाद काव्यमयी अलंकृत तत्समप्रधान भाषा लिखते थे। इन दोनों ने तत्कालीन कथाकारों को काफी प्रभावित किया। फिर भी प्रारम्भिक प्रयास होने के कारण द्विवेदी-युगीन कहानियाँ घटनात्मक अधिक हैं, संवेदनात्मक कम।

जयशंकर प्रसाद के कतिपय आरम्भिक नाटक 'सज्जन', 'कल्याणी परिणय', 'करुणालय' और 'राज्यश्री' को छोड़कर द्विवेदी-युग में नाटकों की स्थिति प्रायः शिथिल रही है। संख्या की दृष्टि से भले ही कई पौराणिक नाटकों की रचना हुई हो, पर गुणात्मक अथवा शैल्पिक दृष्टि से उस पर प्रश्न चिन्ह लग जाता है। कुछ नाटक कृष्ण-चरित पर आधारित हैं तो कुछ रामचरित पर और थोड़े-से अन्य पौराणिक चरित्र पर। ऐतिहासिक नाटकों में गंगाप्रसाद गुप्त का 'वीर जयमल'; वृन्दावनलाल वर्मा का 'सेनापति ऊदल'; बद्रीनाथ भट्ट का 'चन्द्रगुप्त'; कृष्णप्रसाद सिंह का 'पन्ना' जैसे नाटक लिखे गये। लेकिन प्रसाद जी की नाट्य-कला के सामने वे सारे निष्प्रभ प्रतीत हुए। सामयिक उपादानों पर आधारित नाटकों में प्रताप नारायण मिश्र कृत 'भारत-दुर्दशा'; भगवतीप्रसाद कृत 'वृद्ध-विवाह'; जीवानन्द शर्मा कृत 'भारत-विजय'; मिश्रबंधु कृत 'नेत्रोन्मीलन' आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इनका उद्देश्य तत्कालीन सामाजिक-राजनीतिक विकृतियों को उभारना था और इस दृष्टि से इन्हें किंचित सफलता अवश्य मिली, पर नाट्य-कला की दृष्टि से ये नाटक विशेष महत्व नहीं रखते।

UNIT - II

छायावाद और छायावादोत्तर साहित्य

(प्रमुख साहित्यकार और प्रमुख विशेषताएँ)

[पृष्ठ 56 से]

छायावादी युग या स्वच्छन्दतावादी युग ~~UNIT-II~~

आधुनिक हिन्दी साहित्य के विकास का तीसरा चरण (सन् 1918 से 1936 ई.) छायावाद या स्वच्छन्दतावाद का युग है। यह मुख्यतः काव्यान्दोलन है और ऐसा काव्यान्दोलन जो अपनी विशिष्ट अभिव्यंजना प्रणाली तथा नवीन काव्य-चेतना के कारण विद्वानों के बीच सबसे अधिक चर्चित रहा। आलोचकों ने इसे विविध रूपों में परिभाषित और व्याख्यायित करने का प्रयत्न किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल छायावाद शब्द का प्रयोग दो अर्थों में करते हैं। एक तो रहस्यवाद के अर्थ में जहाँ उसका संबंध काव्यवस्तु से होता है अर्थात् जहाँ कवि उस अनन्त और अज्ञात प्रियतम को आलम्बन बनाकर अत्यन्त चित्रमयी भाषा में प्रेम व्यंजना करता है। दूसरे अर्थ में वे इसे शैली विशेष मानते हैं जिसमें लाक्षणिकता, मूर्तिमत्ता, प्रतीक विधान, विरोधचमत्कार विशेषण विपर्यय आदि पर बल रहता है। रहस्यवाद के अन्तर्भूत रचनाएँ पहुँचे हुए पुराने संतों या साधकों की उस वाणी के अनुकरण पर होती हैं जो तुरीयावस्था या समाधि दशा में नाना क्षणों में उपलब्ध आध्यात्मिक ज्ञान का आभास देती हुई मानी जाती थीं। इस रूपकात्मक आभास को यूरोप में छाया कहते थे। इसी से बंगाल में ब्रह्म समाज के बीच उक्त वाणी के अनुकरण पर जो आध्यात्मिक गीत या भजन बनते थे वे छायावाद कहलाने लगे। लेकिन आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी इस मत को भ्रामक मानते हैं क्योंकि छायावाद नाम बंगला में कभी चला ही नहीं। छायावाद शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग मुकुटधर पाण्डेय ने 'श्रारदा' पत्रिका में सन् 1920 में किया। इन्होंने बड़ी सुझ-बूझ से छायावाद की सांकेतिक शब्दावली अतिशय कल्पना-शीलता, अन्तरंग सूक्ष्मदृष्टि, चित्रमयता तथा संगीतमयता को विश्लेषित किये। द्विवेदीजी और शुक्ल जी द्वारा निर्दिष्ट विशेषताओं के ईर्द-गिर्द ही आगे के आलोचकों ने छायावाद को समझने एवं व्याख्यायित करने का प्रयास किया। रामकुमार वर्मा आत्मा-परमात्मा की छाया-प्रतिच्छाया को छायावाद कहते हैं। डा० नगेन्द्र के अनुसार "छायावाद एक विशेष प्रकार की भाव-पद्धति है, जीवन के प्रति एक विशेष भावात्मक दृष्टिकोण है।" अ० रामविलास शर्मा छायावाद को स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह मात्र नहीं, बल्कि उससे कुछ अधिक मानते हैं - "छायावाद स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह नहीं रहा, वरन् थोथी नैतिकता, रूढ़िवाद और सामन्ती साम्राज्यवादी बन्धनों के प्रति विद्रोह रहा है। परन्तु यह विद्रोह मध्यवर्ग के हलावधान में हुआ था। इसीलिए उनके साथ मध्यवर्गीय असंगति पराजय और पलायन की भावना भी जुड़ी हुई है। नन्ददुलारे वाजपेयी ने छायावाद की सर्वमान्य परिभाषा निर्धारित करते हुए कहा है - "मानव अथवा प्रकृति के सूक्ष्म किन्तु सक्त सौन्दर्य में आध्यात्मिक छाया का भाव मेरे विचार में छायावाद के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया। इसमें जयशंकरप्रसाद का मन्तव्य अत्यन्त महत्वपूर्ण कहा जा सकता है। छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, सौन्दर्य,

प्रकृति प्रधान तथा उपचार वक्रता के साथ स्वानुभूति की निवृत्ति छायावाद की विशेषताएँ हैं। अपने भीतर से मोती के पानी की तरह अन्तर-स्पर्श करके भाव समर्पण करने वाली अभिव्यक्ति की छाया कान्तिमय होती है।

छायावादी काव्य का सृजन दो विश्वयुद्ध के बीच में हुआ है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि छायावादी कविता प्रथम विश्वयुद्ध की दुखद परिणति तथा द्वितीय विश्वयुद्ध की भूमिका के कारण रक्तों के प्रभाव से जन्मी है। कुछ सीमा तक महायुद्ध के प्रभाव को स्वीकार करना ही पड़ेगा। छायावाद में राष्ट्रवाद की अपेक्षा जो मानवतावाद का स्वर अधिक मुखर होता है वह कवियों की इसी मान्यता का परिणाम है कि हमारी नियति तथा भाग्य राष्ट्र की सीमाओं में ही निर्धारित और प्रतिचलित नहीं है, बल्कि संपूर्ण विश्व के साथ उनका अभिन्न एवं अपरिहार्य सम्बन्ध है।

नवजागरण के जो तत्त्व भारतेन्दुयुगीन कविता में सीधे-सादे ढंग से व्यक्त होते हैं, वही कुछ और सशक्त रूप में द्विवेदी-युग में अभिव्यक्त होते हैं, छायावाद तक ये कविता की आन्तरिक संरचना से संपृक्त हो जाते हैं। समाज सुधार तथा राजनीतिक जागरूकता जो कविता के ऊपरी सतह पर तैर रहे थे वे कविता में द्रवीभूत हो गये, क्योंकि अब तक उनका सम्बन्ध कवि के गहरे संस्कार से हो गया था। अतीत के पात्र छायावाद में किसी महापुरुष के रूप में इस पृथ्वी को स्वर्ग बनाने की कामना से अवतरित होते। छायावादी कवि अतीत के पात्रों के आन्तरिक संघर्ष में ही अपने युग के संघर्ष को उत्कीर्ण कर देता है।

छायावाद की काव्य-प्रवृत्ति के निर्धारण में सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक परिस्थितियों के बदलाव तथा उनके प्रभाव से उत्पन्न नयी समस्याओं की भूमिका उल्लेखनीय है। सामाजिक सुधार की जो प्रक्रिया उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध से शुरू हो गई थी, उसकी एक परिणति यह भी रही कि व्यक्ति की अपेक्षा समाज अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया। वैयक्तिक दुःख-दर्द की अपेक्षा समाज सेवा, परोपकार की भावना की आवश्यकता से अधिक तरजीह दी जाने लगी थी, जबकि औद्योगिक विकास के कारण बढ़ते हुए पूँजीवादी प्रभाव से व्यक्तिवादी विचारधारा तेजी से उभर रही थी। पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में 'व्यक्ति' पूँजी लगाने और बाजार में अपना माल बेचने के लिए स्वतन्त्र रहता है। डा० रामनाथ सिंह के शब्दों में "पूँजीवादी साहित्य पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था के अनुरूप ही व्यक्तिवादी होती है।" वस्तुतः छायावाद में जो व्यक्तिवाद उभरा है, वह द्विवेदी युगीन समाजवाद का पूरक है और भारतीय आध्यात्मिक व्यक्तिवाद की भौतिक परिणति है।

सामन्ती - साम्राज्यवादी बन्धनों से मुक्ति का आन्दोलन छायावाद में बहुत कुछ विद्रोहात्मक हो जाता है। पुनर्जागरण काल में धर्म के प्रति नई दृष्टि का विकास तो हुआ किन्तु पुराने ढंग की धार्मिकता का आतंक बहुत कुछ बना हुआ था। छायावाद में धार्मिकता से लगभग मुक्त होकर आध्यात्मिकता एवं दार्शनिकता को अपनाया गया।

छायावाद में प्रेम और शृंगार का स्रोत नये आवेग से प्रस्फुटित होता है यद्यपि उसमें रीतिकालीन स्थूल दैहिकता तथा भोगपरक वासना नहीं है तथापि द्विवेदी युगीन नैतिक दृष्टि में उसमें अश्लीलता की गन्ध आ सकती है। नैतिकता और बौद्धिकता का सम्बन्ध अभिन्न है। भाव का निश्छल आवेग नैतिकता की मर्यादा को कभी-कभी तोड़ देता है। रीतिकालीन काव्य परिपाटी का विरोध भी सामन्ती भावनाओं तथा बन्धनों से मुक्ति का ही द्योतक है। काव्य विषय, भाषा, छन्द तथा कल्पना की पुरानी लकीरों को छोड़कर नये मार्ग पर कविता संचरित होती है। इसके अतिरिक्त छायावाद की काव्य-प्रवृत्ति के निर्माण में द्विवेदी युगीन कविता की प्रतिक्रिया भी मानी गई है। हिन्दी साहित्येतिहास में काव्य विकास की स्थितियाँ पूर्ववर्ती काव्य प्रवृत्ति की क्रिया-प्रतिक्रिया में स्वरूप ग्रहण करती दिखाई देती है।

छायावादी कवियों ने अंग्रेजी की रोमैण्टिक कविता से भी पर्याप्त प्रेरणा ली। यूरोप में सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी में जिसतरह की परिस्थितियाँ थीं, वही परिस्थितियां क्रमोवेश द्विवेदी-युग में बन गई थीं। अतः समान परिस्थितियों से समान प्रवृत्ति की कविता का सृजन होना स्वाभाविक है। अंग्रेजी के रोमैंटिक कवियों से छायावादी कवि खुलकर प्रेरणा लेते हैं। इसीलिए इन दोनों में बहुत कुछ साम्य दिखाई देता है। स्वच्छन्दतावाद में परम्परा के प्रति जिसतरह विद्रोह हुआ है वैसा विद्रोह छायावाद में नहीं है। प्रणय की स्वच्छन्द अभिव्यक्ति छायावाद की क्रान्तिकारी प्रवृत्ति नहीं है। वस्तुतः छायावादी काव्य स्वच्छन्दतावादी कम और पुनरुत्थानवादी अथवा नवजागरणवादी अधिक था। छायावाद की प्रणयानुभूति पर रीतिकालीन शृंगार चित्रण का काफी प्रभाव है। काव्यशास्त्रीय मूल्यों की दृष्टि से भी छायावादी प्राचीन सिद्धान्तों - विशेषकर रस सिद्धान्त के अनुरूप है और जहाँ तक दार्शनिक सिद्धान्तों का सम्बन्ध है - छायावादी काव्य सर्ववाद, कर्मवाद, वेदान्त, शैव दर्शन, अद्वैतवाद, भक्ति आदि पुराने सिद्धान्तों को ही व्यक्त करता दिखाई देता है।

छायावादी कवि पहली बार अपनी अनुभूतियों और भावों के प्रबल वेग को सामाजिकता के आवरण को भेदकर व्यक्त करता है।

'उच्छ्वास', 'आँसू' और 'ग्रंथि' आदि में जो प्रणयानुभूति का अंकन किया गया है उसमें किसी हद की आध्यात्मिकता नहीं है। प्रेम की पवित्रता तथा भाव की सबलता के कारण यद्यपि कहीं कहीं आध्यात्मिकता का भ्रम जरूर हो जाता है। किन्तु भावना की शुद्धता, त्यागवृत्ति उसे नैतिकता के नवीन धरातल पर प्रतिष्ठित कर देती है। द्विवेदी युग में रीतिकालीन काव्य-वस्तु का विरोध हुआ है और छायावादी कवि रीतिकवियों से भिन्न अर्थात् भक्ति के बहाने वासनात्मक चित्रण न करके अपनी निजी प्रेमी-प्रेमिका (चाहे कल्पित हो या वास्तविक) के प्रति प्रेम-भावना की ऐसी अभिव्यक्ति की कि वह दया, माया, ममता, त्याग और अगाध विश्वास के कारण भक्तिकालीन आध्यात्मिकता का संस्पर्श करने लगी।

द्विवेदीयुगीन कविता का संचरण स्थूल धरातल पर होता है और उसकी दिशा बहिर्मुखी है। वह व्यक्ति के मन की गहराई में न उतरकर सामाजिक जीवन की समस्याओं को वृत्तिगत करता है। उसमें जीवन और प्रकृति दोनों का ही स्थूल रूप उभरता है। छायावाद में इसकी प्रतिक्रियास्वरूप सूक्ष्म भाव-व्यंजना तथा अन्तर्द्वन्द्व को अंकित करने का प्रयत्न किया गया है। इसमें सामाजिकता के बदले वैयक्तिकता अधिक है।

छायावादी कवियों ने रूढ़ियों से मुक्त होने की जो चेष्टा की है, वह कुछ हद तक राजनीतिक परतन्त्रता की प्रतिक्रिया भी है। प्रथम विश्वयुद्ध में अंग्रेजों का खुलकर साथ देने के बावजूद युद्ध के बाद अंग्रेजों की दमन-नीति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। सन् 1917 में होमरूल लीग की सक्रियता स्वराज आन्दोलन की दिशा में बढ़ गई। राष्ट्रीय आन्दोलन के नेताओं ने ब्रिटिश शासन की मदद इस उम्मीद से की कि बदले में वे भारत को स्वायत्त शासन देंगे। लेकिन युद्ध की समाप्ति के बाद प्रशासन ने अंगूठा दिखा दिया। बल्कि भारतीयों के विरोध के बावजूद 18 मार्च 1919 को रौलेट एक्ट पास कर दिया। गाँधीजी ने इसकी खिलाफत के लिए सत्याग्रह लीग की स्थापना की। विरोध प्रदर्शन किया तो शस्त्रों के बलकर उन्हें दबा दिया गया। कई सत्याग्रही हताहत हुए। सन् 1919 में ही जालियाँवाला हत्याकाण्ड हुआ। परिणामतः आन्दोलन और जोर पकड़ा, किसान-मजदूर भी बड़ी तादाद में शामिल हुए। ऐसी परिस्थितियों में बुद्धिजीवियों को बड़ी निराशा हुई। आजादी के सपने बिखर गये। यह निराशा और पलायन की भावना छायावादी कविताओं में भिन्न-भिन्न स्वरूप लेकर प्रतिध्वनित हुई। राजनीतिक मुक्ति की आशा के मुरझा जाने पर वे रूढ़ियों से मुक्ति के गीत गाने लगे। छायावादी कविता में जल्दी-

जल्दी होने वाले बदलाव का कारण भी इसी में निहित है। वाह्य जगत से असन्तुष्ट छायावादी कवि अन्तर्मुखी हो जाता है जहाँ वह आत्मा को पहचानने की कोशिश करता है। आत्मा की पहचान करके वह पुनः भावात्मक धरातल पर सम्पूर्ण समाज और विश्व मानवता से मिलने के लिए ललक उठता है। उसका आत्मवाद आध्यात्मिक रूप से जुड़कर उसे नयी शक्ति देता है और निराशा में भी आगे बढ़ने की ताकत देता है। विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, अरविन्द आदि दार्शनिक-आध्यात्मिक चिन्तक भी इन्हें प्रभावित करते हैं। भारतीय अद्वैतवाद, भक्तिकालीन रहस्यवाद भी 'स्व' और 'पर' के सम्बन्धों को समझने में इनकी सहायता करते हैं।

राजनीतिक असफलता की पीड़ा वेदना-दर्शन के रूप में परिणत हो जाती है। इसमें गाँधी जी की वह विचारधारा भी कार्यरत है जिसमें यह मान्यता थी कि सत्य एवं न्याय को प्राप्त करने के लिए पीड़ा सहना भी आवश्यक है। व्यक्ति पीड़ा झेलकर यदि विश्व पीड़ा बन सकती है तो किसी भी देश का व्यक्ति उसको कभी-न-कभी अनुभव तो करेगा। छायावादी काव्य में पीड़ा बोध एक मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित हो गया था। विरह की शाश्वत कामना में यही वेदना दर्शन प्रभावी है।

प्रसाद जी ने 'आँसू' के जरिए वैयक्तिक प्रणयानुभूति का सूक्ष्म चित्रण किया है। इसके प्रथम संस्करण में विशुद्ध मानवीय प्रेम की अभिव्यंजना अधिक मुखर है। दूसरे संस्करण में रहस्यात्मकता का भ्रम पैदा करने के लिए अपेक्षित परिवर्तन किये गये हैं। वैयक्तिक सुख-दुःख तथा बेबाक अनुभव की जैसी अभिव्यक्ति 'सरोज स्मृति' में हुई है वैसी रचना हिन्दी साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है। अपनी ही कन्या के सौन्दर्य चित्रण तथा उसकी अनेक अपूर्ण तथा अतृप्त भावनाओं के मूल में पिता के दायित्व की स्वीकृति अत्यन्त मार्मिक है। एक साधारण सी लड़की की स्मृति को कवि दृष्टि ने कितना उदात्त तथा कितना मार्मिक बना दिया है, यह सब एक ओर उसकी काव्य प्रतिभा का द्योतक है, दूसरी ओर व्यक्ति-प्रतिष्ठा का एक उत्कृष्ट दृष्टान्त भी है। द्विवेदी युग में ऐतिहासिक और पौराणिक चरित्रों के माध्यम से नारी-वेदना का मर्म इतना प्रभावशाली ढंग से उभर नहीं पाया जितना कवि-पुत्री सरोज की स्मृति में उभरा है। कठोर सामाजिक व्यवस्था के बीच व्यक्ति की भावनाओं का करुण क्रन्दन ही सरोज के माध्यम से अभिव्यंजित पाता है। पंत का आजीवन अविवाहित रहना तथा महादेवी का परिणय के बावजूद सम्बन्ध विच्छेद के कारण चिर वियोग का अभिशाप, निराला और प्रसाद

की पारिवारिक विडम्बना तथा पीड़ाबोध उनके वैयक्तिक सुख-दुःख के भावों के प्रेरक हैं।

छायावादी कविता की कतिपय प्रवृत्तियों का निर्धारण भी उनकी व्यक्तिवादी दृष्टि के आधार पर किया गया है। प्रकृति में आत्म भाव की खोज, नई सौन्दर्य दृष्टि और अतिशय भावुकता मुख्यतया उसकी तीन परिणतियाँ रहीं। वास्तव में छायावादी काव्य-दृष्टि जीवन के प्रति एक सूक्ष्म भावात्मक दृष्टिकोण है जो उसके शिल्प को भी प्रभावित करता है। समाज, जीवन और प्रकृति को देखने की हर कवि का अपना नजरिया होता है। उसका नजरिया युग सन्दर्भों से भी प्रभावित रहता है। चूँकि छायावाद में युग भाव आत्म भाव बन गया है इसीलिए उसकी प्रत्येक काव्य-प्रवृत्ति में व्यक्तिवाद ही नजर आता है। छायावाद की सम्पूर्ण काव्य-प्रवृत्तियों को रेखांकित करने के लिए यदि एक ही प्रमुख आधार का जिक्र करना चाहें तो कह सकते हैं कि छायावाद नवजागरण के गहरे प्रभाव की काव्यात्मक निष्पत्ति है। नये परिवेश में नई चेतना की जागृति ही अतीत और वर्तमान को नई दृष्टि से देखने-परखने की प्रेरणा देती है

छायावाद की विशेषताएँ :

छायावाद को परिभाषित करनेवाले विद्वानों ने छायावाद की प्रमुख विशेषताओं को ही निर्दिष्ट किया है। किन्तु छायावाद की पूरी काव्य यात्रा तथा शिल्पगत स्थिति को देखने से ज्ञात होता है कि कोई भी परिभाषा पूर्ण रूप से छायावाद को निरूपित नहीं कर पाती। बहरहाल, छायावाद की प्रमुख विशेषताओं को कुछ इस प्रकार रेखांकित किया गया है -

(1) **वैयक्तिकता** - छायावादी काव्य की मूलभूत विशेषता है व्यक्तिनिष्ठा और आत्माभिरंजना। बढ़ते हुए पूँजीवाद के प्रभाव के कारण व्यक्तिवादी चेतना का उदय युग सत्य माना जाता है। किन्तु छायावाद में जो व्यक्तिवाद अभिव्यक्त होता है उसका स्वरूप और आधार बहुत कुछ आध्यात्मिक किस्म का है। वह आत्मा को सम्पूर्ण जगत में व्याप्त देखता है। इसीलिए बाह्य वस्तुओं पर अपनी निजी भावनाओं को आरोपित करके उसका चित्रण करता है।

छायावाद में व्यक्ति की व्यापक अनुभूति में समष्टि की चेतना समाहित हो गई है। उदाहरणार्थ, " मैंने मैं शैली अपनाई
देखा एक दुःखी निज भाई।
दुःख की छाया पड़ी हृदय में
झट उमड़ वेदना आई।" (निराला)

प्रो. डा० रघुवंश छायावाद के व्यक्तिवादी दृष्टिकोण की निश्चित परिणति की सीमाओं को निर्दिष्ट करते हैं - " उसकी वैयक्तिकता इतनी अन्तर्मुखी हो गई कि कवि वस्तु-सत्य की नितान्त अवहेलना करके सूक्ष्म भावात्मक खोजों, आशा के वायवी रंगीन चित्रों तथा कल्पना की चित्र-विचित्र घाटियों में रमता रहा।

साधारण जीवन और जगत से सम्बन्ध न होने के कारण इन कवियों की आत्माभिव्यक्ति में जीवन की सुख-दुःखमयी संवेदनाओं, आशा-निराशा के अन्तर्द्वन्द्व का रूप बहुत कम आ सका है, ... इस काव्य जगत के रंगों का सौन्दर्य है, उसके सूक्ष्म से सूक्ष्म छायारूप को चित्रमय करने का प्रयास किया गया है। ... इसकारण इस काव्य में भावात्मक तथा कल्पनात्मक सौन्दर्य है पर शक्ति का नितान्त अभाव है।" अवश्य समग्र छायावादी काव्य के लिए यह कथन लागू नहीं होगा। छायावाद में स्थूल संघर्ष के बदले आन्तरिक संघर्ष का चित्रण अधिक हुआ है। कामायनी के मनु का संघर्ष बाह्य न होकर आन्तरिक ही है। इसीप्रकार 'राम की शक्तिपूजा' और 'सरोज-स्मृति' में जीवन की रूढ़ियों तथा अर्थहीनता की स्थितियों में पिसते मानव की करुण-संवेदना को उभारा है।

② रहस्यात्मकता : छायावादी काव्य की नितान्त आन्तरिकता तथा अन्तरंग अनुभूति को पृथ्वी और आकाश के मध्य में प्रकीर्ण कर देने की आकांक्षा रहस्यवाद को जन्म देता है। महादेवी की कविताओं में असीम से मिलन की तड़प है, प्रेम और वेदना की गहराई उन्हें रहस्यवादी बनाती है। प्रसाद परम सत्ता की बाहरी तलाश करते हुए भी श्रद्धा-मनु को शक्ति और शिव के प्रतीक रूप में प्रतिष्ठित कर देते हैं। वे आँसू में वेदना का इतना विस्तार करते हैं कि उसमें सूफी प्रेम की आध्यात्मिक छाया का भ्रम उत्पन्न हो जाता है। प्रसाद के यहाँ आत्मविस्तार प्रायः एक अतीन्द्रिय आनन्दानुभूति के रूप में अभिव्यक्ति पाता है, लेकिन कामायनी में छायावाद युग की प्रायः सभी रहस्य भावनाओं का प्रतिनिधित्व हो गया है, निराला जिस प्रकार के कटु यथार्थ का सीधा साक्षात्कार करते हैं उसी तरह विराट तत्त्व के मोहक तथा प्रलयकारी दोनों रूपों को साकार करते हैं। पंत प्रकृति के मौन निमन्त्रण को मन्त्रमुग्ध आवाज का बड़े कुतूहल से श्रवण करते हैं। डा० रघुवंश छायावादी रहस्यवाद को प्राचीन साधनात्मक रहस्यवाद से भिन्न मात्र-रहस्याभास मानते हैं। उनका तर्क है कि "प्रतीकों को जुटाने तथा व्यक्तिगत प्रेम आदि भावना को निर्वैयक्तिक आधार प्रदान करने से इस काव्य में रहस्यात्मक अभिव्यक्ति का आभास अवश्य आ गया है। पर इस वाक्य में आत्मोत्सर्ग की भावना का नितान्त अभाव है, क्योंकि मूलतः छायावादी कवि अहंवादी है और इस 'अहं' की भावना के रहते आत्मोत्सर्ग सम्भव नहीं और बिना आत्मोत्सर्ग के (अहं के विलय) आध्यात्मिक जीवन के मिलन-सुख की कल्पना नहीं की जा सकती।" (साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य, 116-17)

③ प्रकृति चित्रण - सामाजिक मर्यादाओं तथा रूढ़ियों से मुक्ति की प्रबल आकांक्षा तथा अहं केन्द्रित होते हुए भी छायावादी कवि प्रकृति के उन्मुक्त प्रांगण में विचरण करता है। समाज की निश्चित व्यवस्था तथा

अनुशासन की सीमाओं के बाहर प्रकृति-जगत की निर्बन्ध स्वच्छन्दता के वातावरण ने उन्हें खूब आकर्षित किया। उन्होंने प्रकृति के साथ गहन रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करते हुए कहीं उस पर नारी भावों का आरोपण किया, कहीं उसके माध्यम से अलौकिक प्रेम का अनुभव किया, कहीं मानवीय अनुभूतियों तथा संवेदनों का स्पन्दन देखा तथा कहीं प्रकृति की स्वतन्त्र छवि का रूपांकन किया।

सभ्यता के आवरण तथा मानव की श्रेष्ठता ग्रंथि के कारण प्रकृति और मानव के बीच बढ़े अपरिचय के कारण टूटता हुआ रिश्ता छायावाद में पुनः जुड़ गया। छाया, बादल, पर्वत, समुद्र, सन्ध्या, उषा के वर्णनों में नूतन भाव-भंगिमाएँ, रागात्मक तत्वों तथा काल्पनिक दृश्यों का समावेश करके कवियों ने मौलिकता का परिचय दिया। प्रकृति के विविध रूपों की परिकल्पना तथा नई सौन्दर्य दृष्टि के निर्माण में परम्परित भारतीय काव्य परम्परा तथा अंग्रेजी की रोमैंटिक कविताओं की सम्मिलित प्रेरणा है।

(4) नारी सौन्दर्य और प्रेम – प्रकृति-सौन्दर्य तथा छवि के समानान्तर छायावाद में नारी-सौन्दर्य तथा प्रेम का उदात्त वर्णन हुआ है। द्विवेदीयुग में नारी को उसकी दीनता-हीनता से उबारने का प्रयास अवश्य किया गया है किन्तु उसका समग्र व्यक्तित्व नहीं उभर सका। छायावाद में पहली बार 'नारी' को उसके विराट व्यक्तित्व – प्रेयसी, जननी, आदि को प्रतिष्ठित किया गया। प्रसाद ने नारी को केवल श्रद्धा के रूप में मूर्तिमान किया। निराला ने 'विधवा' को इष्टदेव के मन्दिर की पूजा के रूप में निरूपित किया। प्रकृति के विस्तृत क्रोड में भटकनेवाली प्रेम की प्रतिध्वनि नारी में ही परिलक्षित होती है। वह पुरुष की प्राणशक्ति है जिसमें संघर्ष तथा सृजन की मधुर प्रेरणा प्राप्त होती है। सूने तथा नीरस एकाकी जीवन में नारी का आगमन वसन्त की सरसता घोल देता है। कवियों की प्रकृति में विराट दाम्पत्य भाव तथा काम की उदात्त लीला के दर्शन होने लगते हैं। छायावादी नारी की नयनाभिराम ऐन्द्रजालिक प्रभाव जीवन और प्रकृति को पूरी तरह परिवर्तित कर देता है। प्रेम तथा स्नेह के राग से आधुनिकता कालीन हिन्दी कविता का सुधावादी उपदेशात्मक रूप माधुर्य से आप्लावित हो जाता है। प्रसाद के काममंडल से मण्डित श्रेय में सर्ग इच्छा के परिणाम, जीजीविषा और जीवन की समस्त आकांक्षाओं, आशाओं का संपुंजन हो जाता है। महादेवी के गीतों में तो आद्यन्त प्रेम

की तरल धारा ही प्रवाहित है। निराला ने अनेक गीतों में प्रेम की अभिव्यंजना करते हुए स्वतन्त्र रूप से 'प्रेम के प्रति' स्वतन्त्र कविता लिखी। पंत भी द्रुमों की मृदु छाया छोड़कर नारी के बाल-जाल में उलझते दिखाई देते हैं। पंत के स्त्री-पुरुष के प्रणय-वैशिष्ट्य को रेखांकित करते हुए नामवर सिंह कहते हैं - "इसमें न तो प्रसाद की सी मधुचर्या है और न निराला का सा उद्दाम आवेग। पन्त के प्रणय-चित्रण की विशेषता उसकी वैयक्तिक तरलता में है; इसमें न तो मधु की सी प्रगाढ़ मिठास है, न ज्वार का उफान। इसमें छोटे से पहाड़ी झरने की तरलता है।"

⑤ राष्ट्रीय तथा सांस्कृतिक-चेतना - छायावाद में केवल प्रकृति एवं नारी की रूप छवि ही नहीं निखरी, बल्कि तत्कालीन राष्ट्रीय-चेतना तथा सामाजिक विद्रोह की भावना भी मुखरित हुई। प्रसाद अपने नाटकों में अनेक गीतों के माध्यम से तथा 'पेशोला की प्रतिध्वनि' और 'शेरसिंह का आत्म समर्पण' शीर्षक कविताओं में जातीय पराजय का कारुणिक चित्र अंकित करके मुक्ति मार्ग पर अग्रसर होने की प्रेरणा देते हैं। निराला 'छत्रपति शिवाजी का पत्र' नामक कविता में विजय तथा मुक्ति की इसी उत्कट अभिलाषा को अभिव्यक्त करते हैं -

जितने विचार आज, मारते तरंग हैं
साम्राज्यवादियों की भोग वासनाओं में
हिन्दुस्तान मुक्त होगा घोर अपमान से
दासता के पाश कट जायेंगे।

'जागो फिर एक बार' में निराला ने आत्मगौरव जगाने का प्रयास किया है। 'बादल राग' में ये कुछ आगे बढ़कर गरीबों तथा शोषितों का क्रान्ति के लिए आह्वान करते हैं। छायावादी कवि नारी को युग-युग की कारा से मुक्त करने की दुहाई देते हैं। वे जग के नये उल्लास, नई अभिलाषा तथा सुखमय जीवन के विश्वासों को अपनी कविता में बड़ी आस्था से अंकित करते हैं। पराधीनता की पीड़ा से उबरने की आकांक्षा से कवियों में दोहरी मनोवृत्ति पनपी। एक ने वेदना को ही मूल्य मानने की; दूसरी कल्पना के द्वारा संघर्ष के धरातल को छोड़कर सुखद तथा रंगीन कल्पना-लोक में विचरण करने की।

⑥ अतिशय कल्पनाशीलता - अनुभूति और कल्पना किसी भी युग की काव्य रचना प्रक्रिया की आवश्यक शर्तें हैं। किन्तु छायावादी काव्य

अपनी स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के कारण कल्पना के विस्तृत तथा उच्च क्षेत्र में उड़ान भरता है। रचनाकार के पूर्व रचनाकार के मानस में वस्तु विशेष एक काल्पनिक चित्र निर्मित होता है। अन्ततः यही काल्पनिक चित्र ही स्थूल आकार ग्रहण करता है। छायावादी कवियों ने अनेक स्थलों पर 'कल्पना' के महत्त्व को अंकित किया है। प्रसाद के ही स्वर में,

हे कल्पना सुखदान
तुम मनुज जीवन प्राण
तुम विराट व्योम समान।

निराला ने कविता को 'कल्पना के कानन की रानी' के रूप में पहचाना है। कल्पना के माध्यम से वे प्रकृति तथा मानव के अन्तरतम में प्रवेश करके सूक्ष्म-से-सूक्ष्म भाव स्पन्दनों तथा छवियों को उद्घाटित करते हैं। वे निराशा-पूर्ण दुखद वर्तमान की सीमाओं को तोड़कर राजनीतिक साम्राज्यवादियों को चुनौती देते हुए अखिल विश्व तथा विराट प्रकृति के वृहत्तम कल्पना-साम्राज्य में प्रसारित हो जाते हैं।

⑦ **शिल्प-विधान** – छायावाद ने रूप-विन्यास, चित्रमयता, बिम्ब-विधान, मुक्तछन्द आदि के द्वारा काव्यशिल्प में क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित किया। द्विवेदी युगीन भाषा परिष्कार से बहुत आगे बढ़कर छायावादी कवियों ने भाषा की लाक्षणिक तथा अभिव्यंजनात्मक क्षमता को उद्घाटित किया। वैदिक साहित्य से लेकर द्विवेदी युग तक विकसित उपमानों, प्रतीकों, अलंकारों तथा छन्दों में छायावादी भावानुभूति समा नहीं पाती। इसीलिये कवियों को इनमें नई अर्थ संभावनाओं की तलाश करनी पड़ी। सूक्ष्म भावों के हल्के अन्तर को स्पष्ट करने के लिए शब्द पर्यायों में ध्वन्यात्मकता, कोमलता एवं मसृणता के आधार पर उनकी विशिष्ट व्यंजक छवि को परखना पड़ा। अलंकारों को केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं, बल्कि भावाभिव्यक्ति के विशेष माध्यम के रूप में अपनाया गया। अपनी अपूर्व कल्पना से छायावादी कवियों ने प्रभाव-साम्यमूलक सूक्ष्म उपमानों का चयन किया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का विचार है कि कहीं कहीं तो बाहरी सादृश्य या साधर्म्य अत्यन्त अल्प या न रहने पर भी आभ्यन्तर प्रभाव साम्य लेकर ही अप्रस्तुतों का सन्निवेश कर दिया जाता है। ऐसे अप्रस्तुत अधिकतर उपलक्षण के रूप या प्रतीकवत् होते हैं। जैसे, सुख, आनन्द, प्रफुल्लता, यौवन काल इत्यादि के स्थान पर उनके द्योतक उषा, प्रभात, मधुकाल, प्रिया के स्थान पर मुकुल, प्रेमी के स्थान पर मधुप, श्वेत या शुभ्र के स्थान पर कुन्द, रजत, माधुर्य के स्थान पर मधु आदि। छायावाद में सूक्ष्मता एवं अमूर्तता होते हुए भी चित्रात्मकता पर बल दिया गया है। इसमें उच्च कोटि की बिम्ब-योजना है। संस्कृत के तत्सम शब्दों तथा अंग्रेजी की सेमैंटिक कविता से शब्दों को रूपान्तरित करके उन्हें इस रूप

विन्यस्त किया गया कि शब्दों का सहज संगीत स्वतः मुखरित हो उठा है। जैसे,

दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह सन्ध्या-सुन्दरी परी सी
धीरे धीरे धीरे।

शब्दों की उचित अन्विति, विन्यास के साथ ही प्रगीतात्मकता को विकसित तथा समृद्ध करना इनका प्रमुख लक्ष्य रहा है। हृदय का प्रबल भावावेग छन्द के बन्ध को तोड़कर बह चला है। पुराने छन्द बद्ध-मुक्त होकर मुक्त छन्द के रूप में प्रयुक्त होते हैं।

⑧ **शक्ति-काव्य के रूप में** – छायावादी कवियों ने बड़ी ही सतर्कता के साथ नारी को उसकी सम्पूर्ण भावनाओं के साथ साहित्य में प्रतिष्ठित किया और नारी के त्याग एवं शक्ति को प्रकृति के माध्यम से प्रत्यक्ष किया। महादेवी जब कहती हैं कि 'मैं नीर भरी दुःख की बदली', तो उसका अर्थ यही नहीं होता कि नारी केवल करुणा की प्रतिमूर्ति है, उसमें संघर्ष शक्ति बिल्कुल नहीं है। नारी का आँसू जीवन को उर्वर और मधुर बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निर्वाहता है।

विविध सामाजिक एवं राजनीतिक कारणों से उपजी वेदना छायावादी कवियों को केवल आँसू के बहाने तथा कोलाहल युक्त जग से पलायन करने की प्रेरणा नहीं देती है। बल्कि अपने तथा सम्पूर्ण सांस्कृतिक परिवेश में अन्तर्निहित शक्ति को तलाशने तथा अनुभव करने की उमंग भरती है। "ले चल मुझे भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे धीरे" की रचना करने वाले प्रसाद अन्ततः 'कामायनी' में शक्ति के विद्युत्कण को संयोजित करने तथा मानवता की चिर विजय की आकांक्षा व्यक्त करते हैं।

छायावाद की रचनात्मक प्रेरणा में बंगाल की भूमिका को ओर संकेत करते हुए डॉ रामस्वरूप चतुर्वेदी लिखते हैं, साधारण आचार-विचार लेकर साहित्यिक रचना-कर्म के लिए मध्यदेश को आदर्श बंगाल से मिलना था, यह तत्कालीन संस्कृति के प्रवाह की दिशा थी। भौगोलिक और ऐतिहासिक दृष्टि से यह स्वाभाविक था। क्योंकि उन्नीसवीं सदी में पुनर्जागरण का नेतृत्व बंगाल ने किया था। बंगाल की इस प्रेरणा में शक्ति का मन्त्र था जिसे रचनात्मक परिणति मिली छायावादी काव्य में। रवीन्द्रनाथ का काव्य और 'गीतांजलि' से वातावरण का निर्माण करते हैं। वह हिन्दी के छायावादी काव्य संसार का एक अंश मात्र है। उसके केन्द्र में तो शक्ति चेतना का वह उत्स है जिसने भारतीय पुनर्जागरण को परिचालित किया था और जो क्रमशः साहित्य में सूक्ष्म स्तरों पर उन्मुक्त हुआ।

जयशंकर प्रसाद ने शुरू में ही छायावाद की संरचना में चमक और कांति को निर्दिष्ट किया था। किन्तु यह चमक और कान्ति शक्ति का पुंज छायावाद के अन्तिम दौर में ही बन पाती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि गाँधी जी के अहिंसा एवं सत्याग्रह के प्रभाव से छायावादी कवि अपनी क्रान्ति भावना को काफी देर तक जब्त किये रहा। उसकी क्रान्तिधर्मिता यदि कहीं अभिव्यक्ति पाती है तो वह रूढ़ियों और परंपराओं को तोड़ने में। छायावाद यद्यपि पुनर्जागरण की चेतना को सूक्ष्म स्तर पर कविता की गहराई में उतारता है किन्तु बराबर नवीनता की तलाश की अकुलाहट उसमें बनी हुई है। इसी अकुलाहट के कारण वह द्विवेदीयुगीन अतिरंग सामाजिकता इतिवृत्तात्मकता एवं अभिधात्मकता का विरोध करता है और आगे चलकर स्वयं के द्वारा तय की गई काव्य-यात्रा को छोड़कर नया रास्ता पकड़ता है। नित नूतनता का आग्रह ही उसे अनेक काव्य प्रयोगों के लिए प्रेरित करता है। यही नहीं, प्रथम विश्व युद्ध के बाद अंग्रेजों की वादा खिलाफी के कारण उसे लगने लगा था कि गाँधी जी का तपःपूत अस्त्र स्वतन्त्रता लाने में असमर्थ होता जा रहा है। उसके अन्दर यह विश्वास दृढ़ होने लगा कि साम्राज्यवादी ताकत का प्रत्युत्तर स्वतन्त्र चेतना शक्ति से ही दिया जा सकता है। यह शक्ति शोषण एवं पीड़न के लिए अर्जित शक्ति से अलग अन्याय के विरुद्ध लड़ने की शक्ति थी। इसीलिए 'राम की शक्तिपूजा' में राम शक्ति की मौलिक कल्पना करते हैं। नव-जागरण की चेतना से प्रभावित होकर अपने अतीत के कालात्मक वैभव प्रकृति शक्ति एवं संघर्ष को नये सिरे से स्थापित करते हुए छायावादी कवि आत्मा की दैवी शक्ति को अपनी कविता का प्रमुख स्वर बना देते हैं। प्रकृति और शृंगार के चित्रों में क्रान्ति की आवाज उसकी काव्य यात्रा के बीच से प्रस्फुटित होती रही है।

निराला के 'बादल राग' में गर्जन तथा असनिपात का चित्रण किया है। बादल को क्रान्ति के दूत के रूप में परिकल्पना शक्ति की ही प्रतिछाया है। 'एक बार फिर और नाच तू श्यामा' भी शक्ति साधना काव्य है। निराला ने 'राम की शक्तिपूजा' में तथा प्रसाद ने 'कामायनी' में छायावाद को पूरी तरह से शक्ति काव्य बना दिया है। 'रामकी शक्तिपूजा' में निराला का संकेत है कि चाहे स्वार्थ की लड़ाई लड़नेवाले शत्रु हो और चाहे साम्राज्यवादी शत्रु हो, जिसके पास भी शक्ति संचित है उसके विरुद्ध विजय पाने के लिए शक्ति संचयन अपेक्षित है। किन्तु उनके द्वारा गृहीत तरीकों से अलग शक्ति की मौलिक आराधना की आवश्यकता है।

जाम्बवान के शब्दों में उनकी मान्यता है कि "आराधन का दृढ़ आराधन से दो उत्तर" राजनीतिक पराजय की निराशा में आत्मशक्ति का साक्षात्कार सम्पूर्ण भारतीय शक्ति के एकाकार तथा उसे अपने अन्दर अहसास करने की प्रक्रिया है। प्रथम विश्वयुद्ध के कारण मानवता के संरक्षण की चिन्ता राष्ट्रीय मुक्ति की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण हो गई थी। इसीलिए प्रसाद की कामायनी में मानवतावाद का स्वर अधिक गुंजरित हुआ। प्रसाद शक्ति के विद्युत्कणों को संयोजित करके सम्पूर्ण मानवता की विजय कामना करते हैं -

शक्ति के विद्युत्कण जो व्यस्त
विकल बिखरे हैं हो निरुपाय
समन्वय उनका करें समस्त
विजयिनी मानवता हो जाय।

सत्याग्रह तथा वेदान्त दर्शन का पोषक कवि जब कहता है कि 'परम्परा लग रही यहाँ ठहरा जिसमें जितना बल है' तो वह शक्तिशाली का ही समर्थन करता हुआ प्रतीत होता है। कामायनी में दया, माया, ममता की मूर्ति कामायनी अनन्त शक्ति स्वरूपा हो जाती है।

'जागरण' का मधुर भाव धीरे धीरे दहाड़ में बदलता है। मनुष्य की और प्रकृति की भी सुप्त चेतना को जगाने का उपक्रम यहाँ कवि ने सामान्यतः प्रशमित और कभी कभी ओज की मुद्रा में किया है। छायावादी जागरण गीतों में प्रसाद रचित 'अब जागो जीवन के प्रभात', 'बीती विभावरी जाग री'; निराला कृत 'जागो फिर एक बार'; महादेवी कृत 'जागो तुझको दूर जाना'; सुमित्रानन्दन पंत कृत 'ज्योति भारत' उल्लेखनीय हैं। सन_1936 के आसपास की रचनाओं में जागरण का स्वर पहले से कहीं अधिक ओजस्वी हुआ है। 'तुलसीदास' कविता में निराला का आह्वान है -

जागो जागो आया प्रभात
बीती वह बीती अंध रात
झरता झर ज्योतिर्मय प्रपात पूर्वांचल
बाँधो बाँधो किरणें चेतन।

अतः स्पष्ट है कि छायावादी काव्य वैयक्तिक प्रणयानुभूति, प्रकृति सौन्दर्य तथा जागरण की चेतना से सम्पृक्त होकर विकसित हुआ है। इसकी शीर्षस्थ रचनाओं में शक्ति की प्रतिष्ठा इसके द्वारा अन्वेषित लक्ष्य की सूचक है। यह शक्ति आत्मिक राष्ट्रीय एवं मानवीय शक्ति का पर्याय बन गई है। भावों की कोमलता में से ओजस्वी शक्ति प्रस्फुटित होती है। अपने अन्तिम प्रस्थान बिन्दु में छायावाद मूलतः शक्ति काव्य के रूप में स्थापित होता है। किन्तु उसमें प्रकृति और जीवन की मधुरता, कोमलता, सूक्ष्म सौन्दर्य बोध, विश्राम एवं शान्तिपूर्ण क्षणों को भी तलाश एवं समावेश है।

छायावाद के प्रमुख कवि और उनकी कृतियाँ

छायावाद के प्रवर्त्तक के रूप में जयशंकर प्रसाद का नाम लिये जाने पर भी उनके साथ सुमित्रानन्दन पंत, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला एवं महादेवी वर्मा को मिलाकर इन्हें 'कवि-चतुष्टयी' का नाम दिया जाता है। कुछ लोग प्रसाद, पंत और निराला को क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और महेश कहकर इन्हें छायावाद के 'त्रिदेव' के रूप में चित्रित करते हैं। इनके अतिरिक्त रामकुमार वर्मा, माखनलाल चतुर्वेदी, भगवतीचरण वर्मा, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', सुभद्राकुमारी चौहान, रामनरेश त्रिपाठी, मिलिन्द आदि के नाम लिये जाते हैं। इन्हीं तमाम कवियों की सृष्टि के वैभिन्न्य को देखते हुए इस काल को 'आधुनिक हिन्दी कविता का स्वर्णकाल' कहा जाता है। कतिपय प्रमुख कवि और उनकी कृतियों के बारे में विशेष चर्चा अपेक्षित है।

जयशंकर प्रसाद (सन् 1890-1937 ई.)

काशी के एक सम्पन्न वैश्य परिवार, जो 'सुंघनी साहु' के नाम से प्रसिद्ध था, उसमें जयशंकर प्रसाद का जन्म हुआ। बाल्यकाल में पिता की मृत्यु, दो-दो पत्नियों की मृत्यु, पितृतुल्य बड़े भाई की मृत्यु और आर्थिक संकट आदि विपदाओं से जूझने के कारण प्रसाद नियतिवादी हो गये। प्रसाद में असाधारण बहुमुखी प्रतिभा थी। मात्र आठवीं कक्षा तक शिक्षा प्राप्त प्रसादजी ने घर पर ही संस्कृत, हिन्दी, उर्दू, अंग्रेजी का गहन अध्ययन किया। पहले पहल ब्रजभाषा में काव्य-सृजन करनेवाले प्रसाद ने खड़ीबोली में ढेर सारी कालजयी रचनाएँ हिन्दी साहित्य को सौंपी। उनकी प्रमुख काव्य-कृतियाँ हैं - 'चित्राधार', 'प्रेमपथिक', 'करुणालय', 'महाराणा का महत्व', 'कानन कुसुम', 'झरना', 'आँसू', 'लहर', 'कामायनी' आदि। 'प्रेम पथिक' की रचना पहले ब्रजभाषा में की गई थी, बाद में उसे खड़ीबोली में रूपान्तरित कर दिया गया। 'कानन-कुसुम' और 'झरना' के परवर्ती संस्करणों में कवि ने कुछ नई कविताओं का समावेश किया। 'झरना' से पहले की सारी रचनाएँ द्विवेदी-युग में लिखी गई हैं, जिनकी शैली थोड़ा-बहुत अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' की संस्कृत-गर्भित शैली से मिलती-जुलती थी। वे रचनाएँ स्थूल और बहिर्मुखी भी थीं। छायावादी प्रवृत्तियों के दर्शन सबसे पहले 'झरना' की कविताओं में हुए, जिनमें अन्तर्मुखी कल्पना द्वारा कवि ने सूक्ष्म भावनाओं व्यक्त करने का प्रयास किया है। काव्य-सौन्दर्य का चित्रण करते हुए भी उन्होंने उसके सूक्ष्म और मानसिक पक्ष को व्यक्त करने की ओर ध्यान दिया है।

'आँसू' का आरम्भ कवि की विरह-वेदना की अभिव्यक्ति से होता है : "इस करुणा कलित हृदय में
अब विकल रागिनी बजती
क्यों हाहाकार स्वरों में
वेदना असीम गरजती ?"

'आँसू' एक विरह-काव्य है और स्मृति-काव्य भी। इसमें प्रेमास्पद के सौन्दर्य, उसकी निर्दयता तथा प्रेम की छलना के मादक चित्र अंकित है। इसमें लौकिक आलम्बन होते हुए भी प्रेम की गहनता तथा अभिव्यक्ति की उदात्तता के कारण अलौकिकता का आभास होने लगता है। शब्दों के लाक्षणिक प्रयोग, प्रतीक विधान तथा गीतिपरकता के कारण इसमें अद्भुत प्रभावोत्पादकता आ गई है। 'आँसू' में वैयक्तिक पीड़ा विस्तृत तथा व्यापक होकर विश्वपीड़ा बन जाती है : "सबका निचोड़ लेकर तुम
सुख से सूखे जीवन में
बरसो प्रभात हिमकन-सा
आँसू इस विश्व-सदन में।"

अपनी किशोर भावविह्वलता को रहस्यवादी आवरण में छिपाकर कवि कलात्मक कुशलता से सूफियों के प्रेम की आध्यात्मिकता, बौद्ध करुणा की दार्शनिकता ~~की दार्शनिकता~~ की झलक पैदा कर देता है। अतः स्पष्ट है कि छायावादी कवि निराशावादी नहीं है। उसकी कृतियाँ मानव-समाज के लिए कल्याण की कामना से अलंकृत है। 'आँसू' में प्रसाद जी की अनुभूति व्यक्तिगत निराशा के गर्त से निकलकर विश्व-वेदना के साथ तादात्म्य स्थापित करती हुई मानव-जीवन को सुखी बनाने के लिए आकुल हो उठती है।

'लहर' में प्रसाद की गीत-कला का उत्कृष्ट उदाहरण मिलता है। इन गीतों में कहीं तो प्रकृति के सौन्दर्य का वर्णन है और कहीं प्रणय की तीव्र अनुभूति का, कहीं करुणा की अभिव्यक्ति है तो कहीं रहस्यवादी संकेत दिखाई-देते हैं। 'शेरसिंह का शस्त्र समर्पण', 'पेशोला की प्रतिध्वनि' और 'प्रलय की छाया' में कवि ने मुक्त छन्द में ऐतिहासिक प्रसंगों की शक्तिशाली और मार्मिक अवतारणा की है। कल्पना की मनोरमता, भावुकता और भाषा-शैली की प्रौढ़ता को इसकी रचनाओं में सर्वत्र देखा जा सकता है।

'कामायनी' प्रसाद की अन्तिम तथा प्रौढ़तम कृति है। इसकी कथावस्तु सम्पूर्ण विश्व द्वारा समर्थित, पौराणिक तथा धार्मिक आख्यानों से सम्बद्ध है। जलप्लावन की कथा ऋग्वेद, शतपथ ब्राह्मण, तथा विभिन्न पुराणों से संकलित की गई है। इस घटना का वर्णन यहूदियों और असीरियों के पुराणों में भी है। वैज्ञानिकों द्वारा भी इस घटना की पुष्टि की गई है। 'कामायनी' की अन्तिम तीन सर्गों की कथावस्तु शैवागम से गृहीत है। प्रसाद ने विविध ग्रंथों में बिखरे हुए

कथासूत्रों को बड़ी कुशलता से संयोजित किया है। भारतीय गरिमा तथा आदर्श की स्थापना के लिए उन्होंने आवश्यकतानुसार घटनाओं में परिवर्तन भी किया है। 'कामायनी' की कथा महाकाव्य की माँग के अनुसार प्रख्यात ही नहीं बल्कि विश्वविश्रुत है। इसीलिए इस कथा के साथ विश्व हृदय का रागात्मक सम्बन्ध सम्भाव्य है। कामायनी में यद्यपि पुराने महाकाव्य के प्रतिमानों की परवाह नहीं की गई है, फिर भी विद्वानों ने इसकी कथावस्तु में पाँचों कार्यावस्थाओं, सभी अर्थ प्रकृतियों, तथा नाटकीय पंच सन्धियों का अनुसंधान किया है। कथानक की रचना मनु को केन्द्र में मानकर हुई है; किन्तु कथा का सदाश्रयत्व नायिका श्रद्धा में निहित है। श्रद्धा को कामगोत्रजा होने के कारण कामायनी कहा गया। इसलिए काव्य का नामकरण कामायनी किया गया। इस नामकरण के पीछे नारी का सामाजिक और आध्यात्मिक महत्ता की स्वीकृति है, जो नवजागरण के प्रभाव से उत्पन्न हुई थी।

कामायनी की कथा अपनी संरचनात्मक विशिष्टता में अतीत के परिप्रेक्ष्य में वर्तमान को भी समाहित कर लेती है। समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, दर्शन आदि से सम्बद्ध अनेक समस्याएँ और विचार सरणियाँ कामायनी के कथाकर्षण में खिंचती चली आती हैं। इसमें मातृसत्तात्मक तथा पितृसत्तात्मक युगों की झलक देखी जा सकती है। आदिम सभ्यता से लेकर आधुनिक ज्ञान-विज्ञान एवं मशीनीकरण के विकास की सूक्ष्म सांस्कृतिक स्थितियाँ भी परिलक्षित हो जायेंगी।

कामायनी में प्राचीन महाकाव्यों की भाँति घटनाओं का विस्तार नहीं है। न चरित्रों का विशद विवेचन है और न ही चरित्रों के जीवन के कार्यव्यापार और स्थितियों का वर्णन। अतः आकार की दृष्टि से यह वृहद रचना नहीं है। इसमें मानव की आन्तरिक भावनाओं का द्वन्द्वात्मक विस्तार है। इसीलिए इसे भावात्मक महाकाव्य की कोटि में रखा जाता है। इसमें कथानायक की जगयात्रा में आनेवाले पड़ावों, स्थानों व वाह्य अवरोधों एवं संघर्षों का चित्रण नहीं है, बल्कि अन्तर्यात्रा के विविध भावों का पारस्परिक संघर्ष अंकित है। अतः कामायनी के सर्गों का विभाजन व नामकरण किया गया है, जिससे महाकाव्य को रूपकत्व मिलगया है। इसमें मन की यह यात्रा 'चिन्ता' से शुरू होकर क्रमशः 'आशा', 'श्रद्धा', 'काम', 'वासना', 'लज्जा', 'कर्म', 'ईर्ष्या', 'इड़ा', 'स्वप्न', 'संघर्ष', 'निर्वेद', 'दर्शन', 'रहस्य' होता हुआ 'आनन्द' तक पहुँचती है। महाकाव्य के ये पन्द्रह सर्ग भिन्न-भिन्न भावात्मक स्थितियों से परिचय कराते हैं। प्रसाद जी ने कथा के प्रारम्भ में स्वयं कथा की प्राचीनता और उसके रूपकत्व का संकेत किया है- "यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास में रूपक का भी अद्भुत मिश्रण हो गया है। इसीलिए मनु, श्रद्धा, इड़ा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए सांकेतिक अर्थ की अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। मनु अर्थात् मन के दोनों पक्ष हृदय और मस्तिष्क का सम्बन्ध क्रमशः श्रद्धा और इड़ा से ही लग जाता है। यहाँ श्रद्धा रागात्मिका वृत्ति और इड़ा व्यवसायात्मिका वृत्ति है।" (भूमिका से)

प्रसाद के इस संकेत से विद्वानों ने कामायनी को रूपक महाकाव्य के रूप में विवेचित और विश्लेषित करने का प्रयत्न शुरू कर दिया। लेकिन कामायनी में आद्यन्त रूपक का निर्वाह बड़ी कठिनाई से हो पाता है। इसमें मन की मनोवैज्ञानिक क्रिया-प्रतिक्रिया या घात-प्रतिघात तो अंकित मिलता है, पर संपूर्ण कथा के साथ मन के आवश्यक विकास की स्थितियों की संगति पूर्णतया स्थापित नहीं हो पाती है। वस्तुतः कामायनी की कथा संरचना के तनाव से दोहरे-तिहरे अर्थ प्रतिभासित होते हैं। पूर्णतया श्लेष या रूपक के स्तर पर दोहरा अर्थ आद्यन्त घटित नहीं हो पाता।

कामायनी का पहला सर्ग है चिन्ता। यह भाव मनुष्य का ऐसा मूल भाव है जो अन्य प्राणियों में नहीं है। यह मनोविकार अभावात्मक है। इसमें संकल्प-विकल्प की स्थितियाँ तो रहती हैं, किन्तु समाधान की आशा बड़ी धुँधली रहती है। इसके बाद आशा का संचार होता है। यह भाव विकासात्मक तथा सुखद है। इसमें विकास की प्रेरणा तो मिलती है, पर विकास का असली आधार श्रद्धा ही है। श्रद्धा से जीवन के असली उद्देश्य का मर्म खुलता है। श्रद्धा को स्पष्ट करने के लिए काम सर्ग की अवतारणा की गई है। काम मन की स्वस्थ और विकासशील अवस्था या प्रेरक शक्ति तो है ही यह शक्ति का पुँज भी है। काम का सच्चा अर्थ न समझने के कारण मनुष्य भटक जाता है। इसमें स्वार्थ और भोग वृत्ति के कारण वासना जगती है। इसकी प्रतिक्रिया में स्त्रीमें लज्जा का भाव स्फुरित होता है। वासना की अतृप्ति पुरुष को क्रूर कर्म की ओर प्रेरित करती है। वह इसकी तृप्ति के लिए राक्षसी वृत्तियों का भी आश्रय लेने से नहीं चूकता है। अहं केन्द्रित होने के कारण वह ईर्ष्या से भर उठता है। तत्पश्चात् वह हृदय से दूर हट कर बुद्धि की शरण में जाता है। मानव के विकास की चरम बौद्धिक स्थिति उसके बुद्धिवादी होने का परिणाम है। विज्ञानवाद या भौतिकवाद उसके स्वाभाविक विकास को बाधित करता है। जब वह बुद्धि या प्रकृति से अतिचार करता है तो सारी शक्तियाँ विरुद्ध हो जाती हैं। फिर सृष्टि का पुनः सन्तुलन स्थापित होता है, अन्त में वह श्रद्धा के सहारे अखण्ड आनन्द को पा लेता है। कामायनी में क्रिया, बुद्धि तथा भाव का अद्भुत सामंजस्य दिखाया गया है।

आलोचकों ने कामायनी को शैव-सभ्यता के ध्वंस को वस्तुतः हिन्दू राजाओं और मुसलमान नवाबों तथा मुगल-बादशाहों के ध्वंस का प्रतीक माना है। मनु भी प्राचीन सभ्यता के ध्वंसावशेष के शिकार होते हुए भी आधुनिक नवजागरण के अग्रदूत हैं।

आज का मानव-जीवन अनेक जटिलताओं और विषमताओं से त्रस्त है। प्रसाद ने जीवन की इन विषमताओं और विसंगतियों को समरसता के द्वारा समन्वित करने का संदेश दिया है। कश्मीरी शैव-दर्शन प्रेरणा लेकर प्रसाद समरसता को बहुत व्यापक अर्थ में नियोजित करते हैं। वे कामायनी में सुख-दुःख,

अधिकार - अधिकारी, हृदय - बुद्धि, राजा, प्रजा, इच्छा, क्रिया, ज्ञान आदि के समन्वय द्वारा समरसता को प्रतिपादित करते हैं। उनकी अन्तिम निष्पत्ति है -

समरस थे जड़ या चेतन, सुन्दर साकार बना था।
चेतनता एक विलसती, आनन्द अखण्ड घना था॥

समीक्षक रमेश कुन्तल मेघ के शब्दों में, "कामायनी का कथानक वृत्त एक मिथक के केन्द्र में घूमता है और वह विलीन न होकर अपना रूप बदल लेता है। अतः इसमें रूपक तत्त्व है, इसीलिए मिथक रूपात्मक होते हैं। कामायनी में मिथक एक ओर से धर्म के हस्तवाद से मिल गया है, दूसरी ओर कला के छायावाद से।" मेघ जी ने कामायनी की रहस्यात्मकता की प्रवृत्ति पर जोर दिया है। वैसे पूरे छायावाद में भी रहस्यात्मकता का भाव व्याप्त मिलता है जो मिथकों से भिन्न धरातल पर प्रतिपादित है। प्रसाद ने प्राचीन और नवीन संदर्भों को बड़े कलात्मक कौशल से व्यंजित किया है। उनका मानना है कि भौतिकता तथा आध्यात्मिकता में भी समन्वय अपेक्षित है। अपूर्व अहं तथा देह की उपासना दोनों ही एकांगी हैं। देवता और असुर दोनों में संघर्ष हुआ क्योंकि श्रद्धा और विश्वास की दोनों में कमी थी। यह संघर्ष मनुष्य में भाव रूप में समाहित हो गया है। इसीलिए दोनों का संघर्ष बराबर चलता रहता है।

कामायनी की चिन्तन पद्धति में प्रसाद का आनन्दवाद सर्ववाद के सिद्धान्त पर आधारित प्रतीत होता है, जिसे वैदिक अद्वैत सिद्धान्त भी कह सकते हैं। सर्ववाद प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों को आत्मसात करता है जबकि शंकर का मायावाद निवृत्ति पर आश्रित है। प्रसाद बड़ी कुशलता से विज्ञान के उस सिद्धान्त को जिसमें यह प्रतिपादित किया गया है कि सर्वोत्तम का अस्तित्व ही प्रकृति में रहता है, इन पंक्तियों में व्यक्त करते हैं -

यह नीड़ मनोहर कृतियों का, यह विश्व रंग स्थल है।
है परम्परा लग रही यहाँ, ठहरा जिसमें जितना बल है॥

प्रसाद के जीवन-दर्शन में नियतिवाद का भी उल्लेखनीय स्थान है। उनका विचार है कि देव सृष्टि का विनाश नियति की प्रेरणा से हुआ है। उन्होंने अचेतन प्रकृति के कार्यकलाप को नियति माना है। यह प्रकृति का नियमन और विश्व का संतुलन करती है। नियति अज्ञेय होते हुए भी जड़ या अज्ञानमूलक नहीं है।

कामायनी चरित्र प्रधान या घटना प्रधान काव्य नहीं है। उनके चरित्रों में प्रतीकात्मकता के तत्त्व पाये जाते हैं जिस पर बाह्य परिस्थितियों का प्रभाव बहुत कम पड़ता है। मनु के चरित्र-चित्रण में यथार्थ दृष्टि प्रमुख है। वे अपनी समस्त दुर्बलताओं के साथ सम और विषम परिस्थितियों के संघर्ष में प्रवृत्त हुए हैं। मनोवैज्ञानिक धरातल पर अंकित मनु का व्यक्तित्व अत्यन्त

प्रभावशाली दिखाई देता है। कामायनी का मनु आदर्श की अपेक्षा उदात्त अधिक है। श्रद्धा प्रसाद की आदर्श सृष्टि है। वह हृदय सत्ता का सत्य है। दया, माया, ममता, माधुर्य, अगाध विश्वास रूपी रत्नों से उसका हृदय पूर्ण है। उसमें सार्वभौमिक कल्याण की भावना है। उसे अपने प्रेम पर गहन आस्था है। आदर्श भाव की प्रतीक श्रद्धा का गृहिणी रूप भी कामायनी में चित्रित मिलता है। उस पर गाँधीवाद का प्रभाव भी परिलक्षित होता है। प्रसाद ने श्रद्धा का सौन्दर्य-चित्रण भी बड़ी सूक्ष्मता से किया है। वह स्थूल आकार की अपेक्षा भाव अधिक प्रतीत होती है। उसे समरसता तथा आनन्द का उदात्त रूप माना जा सकता है।

इड़ा का चरित्र-चित्रण बुद्धिवादिनी के रूप में किया गया है। तर्क जाल-सी बिखरी अलकें या शशि खण्ड सदृश भाल उसकी प्रखरबुद्धि के परिचायक हैं। उसकी अद्भुत क्षमता के फलस्वरूप सारस्वत प्रदेश में इतनी भौतिक समृद्धि दिखाई देती है। इस समृद्धि के बावजूद उसका मानस देश उजड़ा हुआ है। मनु को वह भी एक सन्तुलित दृष्टि का संकेत देती है, उसमें दया, सन्तोष, परदुःख कातरता का भाव है। कामायनी में इड़ा अपनी बौद्धिकता में भी उच्छृंखल नहीं है। लेकिन हाँ, मानव के चारित्रिक विकास का अवसर कामायनीकार को नहीं मिला।

कामायनी में छायावादी काव्य-तत्वों का पूर्णतया सन्निवेश हुआ है। छायावादी काव्य की प्रमुख विशेषता है व्यक्तिवाद जो मनु के चरित्र में स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होती है। छायावादी कवि प्रकृति और जीवन को अपने व्यक्तिगत कुछ हद तक आत्मगत दृष्टि से प्रत्यक्ष करता है। प्रकृति में अपने भावों का प्रक्षेपण करता है। वह सर्वचेतनवाद की मान्यता के अनुसार प्रकृति में चेतना के दर्शन करता है। प्रसाद ने कामायनी में अधिकांशतः प्रकृति को सचेतन रूप में प्रस्तुत किया है। इसमें वल्लरियाँ नृत्य करती हैं, मधुकर वीणा बजाते हैं और वासन्ती मलयानिल उन्मत्तों की भाँति गिरता-पड़ता चलता है। किरणें अप्सरा के रूप में दिखाई देती हैं।

छायावाद में प्रथम विश्वयुद्ध के दुष्परिणामों के कारण मानवता के संरक्षण मंगल और विकास की चिन्ता भी मुखरित हुई। प्रसाद कामायनी में शाश्वत-मानव भावों के सत्य को निरूपित करते हुए यही कामना करते हैं —

शक्ति के विद्युत कण जो व्यस्त, विकल बिखरे हैं हो निरुपाय।
समन्वय उनका करें समस्त, विजयिनी मानवता हो जाय॥

कामायनी का सौन्दर्यबोध सूक्ष्म तथा मौलिक है। श्रद्धा का सौन्दर्य चित्रण करते समय प्रसाद उसकी प्रभावात्मकता को ही व्यंजित करते हैं, उसके स्थूल दैहिक सौन्दर्य को नहीं उभारते। उसकी रूप-छवि, मुस्का

और आंशिक विन्यास के चित्रण में कवि नख-शिख परम्परा का आश्रय ग्रहण करता है, पर उसका रूपांकन करते समय विशुद्ध भाववादी तथा प्रभाववादी स्तर पर उतर कर छायावादी सौन्दर्य दृष्टि का परिचय देता है। श्रद्धा के सौन्दर्य की व्यंजना अलग अलग बिम्बों में अलग अलग तरह से होती है और प्रत्येक चित्र प्रभाव की दृष्टि से पूर्ण होते हुए भी श्रद्धा की सम्पूर्ण दैहिकता को स्थूल आकार से परे दिव्य भाव के रूप में ही उजागर करता है।

छायावाद में रहस्यवाद का अभिन्न स्थान है। कामायनी के समग्र जीवनबोध में रहस्यवाद की स्थिति अभिन्न है जो श्रद्धा मनु से कहती है, 'तप नहीं केवल जीवन सत्य' वही उन्हें जीवन के सम्पूर्ण संघर्षों से गुंजार कर शिव की अवस्था में पहुंचा देती है। इसका तात्पर्य है कि प्रसाद जीवन के संघर्षों के माध्यम से परम चेतना तक पहुंचने के आदर्श को मानते हैं।

कामायनी में नारी की महत्ता को प्रतिपादित करके प्रसादने नारी जागरण और नारी के प्रति छायावादी भावात्मक दृष्टि का परिचय दिया है। नारी के लिए उनका आदर्श है —

नारी तुम केवल श्रद्धा हो, विश्वास रजत नग पगतल में।
पीयूष-स्रोत सी बहा करो, जीवन के सुन्दर समतल में॥

कामायनी की कथा अधिकतर प्रकृति के प्रांगण में घटित होती है। अधिकांश पात्रों का जीवन प्रकृति की गोद में विकसित होता है। प्रकृति, पात्र और परिस्थिति — तीनों में तादात्म्य स्थापित करना प्रसाद की कला है। वर्ड्सवर्थ की भाँति वे प्रकृति के आन्तरिक सौन्दर्य को उद्घाटित करते हैं। उसके रौद्र, कारुणिक तथा शृंगारिक रूपों को प्रत्यक्ष करते हैं। पात्रों के आन्तरिक भावों के प्रतिबिम्बन के लिए भी वे प्रकृति के दृश्यों का विधान करते हैं।

कामायनी के रचना-शिल्प में भी छायावादी शिल्प का प्रतिनिधित्व होता है। इसकी प्रगीतात्मक शैली भावात्मक दृश्यों तथा भाव द्वन्द्वों को सफलता से व्यंजित करती है। बिम्ब विधान, लाक्षणिकता, उपचार वक्रता, तादात्मकता आदि छायावादी काव्यशिल्प को कामायनी में बड़ी आसानी से दृष्टिगत किया जा सकता है। कामायनी के बिम्ब-विधान में सूक्ष्मता मौलिकता तथा व्यंजनात्मकता है। कामायनी के अलंकरण तथा छन्द-योजना में भी नवीनता है। मानवीकरण अलंकार का प्रयोग का नमूना है —

जलधि लहरियों की अंगड़ाई बार-बार जाती सोने।

इस प्रकार विभिन्न दृष्टियों से कामायनी हिन्दी साहित्य की अनुपम महाकाव्यात्मक कृति सिद्ध होती है।

सुमित्रानन्दन पन्त (सन् 1930 - 1977 ई.)

गोसाईं दत्त पन्त के नाम से परिचित इस बच्चे का जन्म हिमालय की गोद में अल्मोड़ा के पास कौसानी गाँव में हुआ था। हिमालय का विराट प्राकृतिक सौन्दर्य कवि के संस्कार का अभिन्न अंग है। इसीलिए उनमें हिमालय की-सी उत्तुंग कल्पना, सघन प्राकृतिक छवि तथा बर्फ की उज्ज्वलता, मसृणता तथा शीतलता के दर्शन होते हैं। मातृस्नेह से वंचित पंत प्रकृति-प्रेम में आजीवन डूबे रहे। पंत में यथार्थ के विषम और दारुण रूप के अभाव का कारण भी कुछ सीमा तक प्रकृति के उस प्रभाव को माना जा सकता है। इनके मन में प्रकृति के प्रति इतना मोह पैदा हो गया था कि ये जीवन की वैसर्गिक व्यापकता और अनेकरूपता में पूर्ण रूप से आसक्त न हो सके :

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले तेरे बाल-जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन ?
छोड़ अभी से इस जग को।

इन पंक्तियों में रमणी की उपेक्षा को जीवन-सौन्दर्य की उपेक्षा के साथ जोड़ा गया है।

कवि पंत की काव्य-कृतियों का क्रम इसप्रकार है - वीणा, ग्रंथि, पल्लव, गुंजन, युगान्त, युगवाणी, ग्राम्या, स्वर्ण किरण, स्वर्णधूलि, युगांतर, उत्तरा, रजतशिखर, शिल्पी और प्रतिभा, सौवर्ण, वाणी, चिदम्बर, रश्मिबन्ध कला और बूढ़ा-चाँद, अभिषेकित, हरीश सुरी सुनहरी टेर, लोकायतन, किरण वीणा।

'वीणा' में पंतजी की प्रारम्भिक रचनाएँ हैं जिनमें कवि प्रकृति के अंग-प्रत्यंग की छवि में लीन होने के लिए लालायित है और इसके साथ है इनमें रहस्य के प्रति जिज्ञासा। वीणा-काल का कवि प्रकृति की अनुपम छटा से इतना विमुग्ध है कि बाला का सौन्दर्य भी उसके सामने महत्त्वहीन है- बाले तेरे बाल-जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन ?" 'ग्रंथि' एक छोटा-सा प्रबन्ध-काव्य है जिसमें असफल प्रेम की कहानी है। प्रसाद के 'प्रेम-पथिक' के समान यहाँ भी एक युवक और युवती में प्रेम हो जाता है, ग्रंथि की नायिका के न चाहते हुए भी किसी अन्य से विवाह हो जाता है, इसमें कहानी का कोई विशेष महत्त्व नहीं है, किन्तु प्रेमानुभूतियों की मार्मिक अभिव्यक्ति की दृष्टि से यह रचना प्रेम पथिक से उत्कृष्ट कही जा सकती है। 'पल्लव' का छायावादी काव्य के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसकी भूमिका में कवि ने अपने काव्य सम्बन्धी आदर्शों की विशद चर्चा की। उनकी मानव-प्रेम की भावना आगे 'गुंजन' में भलीभाँति अभिव्यक्त हुई है। इसमें कवि व्यक्तिगत सुख-दुःखों से ऊपर उठकर विश्व-मानव-कल्याण

के लिए पुकार उठा है —

नव कवि, नव रंग, नव मधु से,
मुकुलित पुलकित हो जीवन ।

'पल्लव' की भूमिका में पंत ने कविता को 'परिपूर्ण क्षणों की वाणी' कहा है । ये परिपूर्ण क्षण अपनी सम्पूर्ण भावनात्मकता के साथ काव्य-चिन्तन के क्रम में निरन्तर विकसित होते गये हैं और इनमें चेतना के सभी स्तरों को आत्मसात तथा अंगीकार किया गया है । चेतना के इन स्तरों को सौन्दर्य-चेतना, बौद्धिक-चेतना, यथार्थ-चेतना तथा सूक्ष्म-चेतना के रूप में विश्लेषित किया जा सकता है । ध्यातव्य है कि इन चेतना स्तरों का अलगाव बहुत स्थूल नहीं है । बल्कि ये एक-दूसरे को संक्रमित करते हैं । 'उच्छ्वास' से लेकर 'गुंजन' तक कविता का सम्पूर्ण भाव पर सौन्दर्य चेतना का है । इसमें कविता का स्वर अपेक्षाकृत अन्तरंग तथा एकान्तिक है । इसमें सौन्दर्य की सृष्टि के प्रमुख उपादान हैं - प्रकृति-प्रेम और आत्म उद्बोधन । 'वीणा' में प्रकृति-सौन्दर्य तथा प्रेम का ही प्रमुख रूप से अंकन हुआ है । प्रकृति के प्रति उनमें बाल सुलभ आकर्षण तथा कुतूहल का भाव है । इसके बाद 'ग्रंथि' में उनका प्राकृतिक शृंगार मानवीय शृंगार में परिणत हो जाता है । इस संग्रह की कविताओं में भावोत्तेजक विरह के भाव प्रस्फुटित हो उठे हैं । पल्लव में सौन्दर्यवादी पन्त का छायावादी कवि अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है । वह प्रकृति के लघु, विराट, कोमल, परुष सभी रूपों का साक्षात्कार करता है, पर उसमें अनुभूति की यथार्थता नहीं आ पाती । गुंजन काव्य-संग्रह में वह सुन्दर से शिव की ओर और कल्पना से चिन्तन की ओर उन्मुख होता है । इसमें भी जीवन के राग को ही अभिव्यक्ति मिली है ।

संरचना और कथ्य की आत्मीयता पन्त की इस काल की कविताओं की प्रमुख विशेषता है । प्रकृति और मानव-प्रेम के प्रति इनमें निश्छल पवित्रता और संकोच भरा खुलापन एवं विनम्रता दिखाई देती है । प्रेम-भावना में कहीं भी उच्छृंखलता तथा उद्दण्डता नहीं है । सौन्दर्य चेतना से संयुक्त इस काल खण्ड की कविताओं की भाषा में शिल्प भी विचारणीय है । पन्त ने सर्वथा नये प्रकार की काव्य-भाषा की तलाश एवं उसकी प्रतिष्ठा की है । भाषा की अन्तर्मुख शक्ति और सूक्ष्म व्यंजना की इनमें गहरी पहचान है ।

पन्त जी के काव्य विकास का अगला चरण बौद्धिक-चेतना से विशेष रूप से जुड़ता है । इस कालखण्ड में युगान्त, युगवाणी, ग्राम्या, स्वर्ण किरण, स्वर्ण-धूलि आदि की रचनाएँ हुई हैं । युगान्त काव्य-संग्रह छायावाद की समाप्ति तथा नये काव्य-युग के आरम्भ की सूचना देता है । यहाँ पन्त की कल्पना विलास तथा वासवी लोक से जमीन पर उतरने की चेष्टा करते हैं । भाषा में स्पष्टता तथा अभिधात्मकता बढ़ जाती है । 'पहाड़' और 'गा कोकिल' जैसी कविताएँ इस मनःस्थिति को उजागर करने के लि

उद्धृत की जा सकती है - "झूल झरो जगत के जीर्ण पत्र
हे स्रस्त ध्वस्त हे शुष्क जीर्ण
हिमताप पीत मधुवात भीत
तुम वीतराग जड़ पुराचीन ।

'युगवाणी' में मार्क्स एवं गाँधी के प्रभाव हैं। किन्तु प्रभाव सिर्फ प्रभाव है। पन्त जी ने स्वयं लिखा है - "मेरा काव्य प्रवास्त: इस युग के महान संघर्ष का काव्य है ... आज के विराट मानवीय संघर्ष को वर्ग संघर्ष तक ही सीमित रखना विगत युगों की खर्व चेतना तथा ऐतिहासिक अन्धकार की एक हिंस्र प्रतिक्रिया मात्र है।"

पुरातन के अन्त और नवयुग के निर्माण की भूमि पर युगवाणी और ग्राम्या की रचना हुई है। इसमें यथार्थ की व्यथा मुखरित है। अधिकांश कविताओं में ग्राम-जीवन का विरूप सौन्दर्य प्रस्फुटित हुआ है। स्वर्ण किरण के बाद की रचनाओं में पन्त नये भाव को स्वागत करते हैं। कवि की अनुभूति वस्तु जगत् को समेटती हुई बौद्धिक चेतना से ऊपर उठकर सूक्ष्म अतिमानवीय चेतना को ग्रहण करती है।

पन्त जी का महाकाव्य लोकायतन एक प्रयोगधर्मी महाकाव्य है। यह युग जीवन की विराट शक्ति को समेटने की चेष्टा का फल है। कथा की एकतानता का सौन्दर्य कथा के बिखराव और विभाजन में निहित है। इस महाकाव्य के बाद भी पन्त चुके नहीं। कला और बूढ़ा चाँद, किरण-वीणा, पुरुषोत्तम राम, चौ. फटनेसे पहले आदि कविताओं में ताजगी बनी हुई है।

पन्त जी को मूलत: प्रकृति, सौन्दर्य और सुकुमार कल्पना का कवि माना जाता है। उनकी काव्य चेतना का स्फुरण प्रकृति सौन्दर्य की अगाध प्रेरणा का प्रतिफल है। कवि ने स्वयं स्वीकार किया है, "कविता करने की प्रेरणा मुझे सबसे पहले प्रकृति निरीक्षण से मिली है जिसका श्रेय मेरी जन्मभूमि कुर्मांचल प्रदेश को है। कवि जीवन से पहले मुझे याद है कि मैं घण्टों एकान्त में बैठा, प्राकृतिक दृश्यों को एकटक देखा करता था और कोई अज्ञात आकर्षण मेरे भीतर, एक अव्यक्त सौन्दर्य का जाल बुनकर मेरी चेतना को तन्मय कर देता था। जब कभी मैं आँखें मूँदकर लेटता था तो वह दृश्यपट चुपचाप मेरी आँखों के सामने घूमा करता था।" पन्त जी ने प्रकृति को प्रेयसी और सुन्दरी के रूप में देखा। पंत ने मानवीय रूप छवि तथा भाव छवि को प्रकृति की छवि में संश्लिष्ट करके अंकित किया है। 'बादल' कविता में प्रकृति का मानवीकरण तथा पन्त का कल्पना वैभव एक साथ देखा जा सकता है। बादल को इतने रूपों में कल्पना हिन्दी में शायद पहले कभी नहीं की गई। सूक्ष्म भाव-बिम्बों, पौराणिक तथा प्राकृतिक बिम्बों के द्वारा कवि बादल के विविध चित्रों को प्रत्यक्ष करता है। आलंबन तथा उद्दीपन की प्रचलित परिभाषा के अलावा वे प्रकृति से वातावरण का निर्माण करते हैं, उसमें रहस्यात्मक संकेत पाते हैं, दूती के रूप में वह संदेश देती है तथा अलंकरण एवं बिम्ब-विधान का उपादान बनती है।

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' (1897-1962 ई.)

वसन्त पंचमी के दिन बंगाल के मेदिनापुर जिले में महिषादल राज्य में जन्मे सूर्यकुमार तिवारी ही आगे चलकर सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' बने। उनके पिता राम सहाय तिवारी गढकोला, जिला उन्नाव (उ.प्र.) के मूल निवासी थे। माता, पत्नी, पुत्री की मृत्यु, गरीबी, तिरस्कार आदि जूझते हुए कवि का सम्पूर्ण संस्कार ही संघर्षशील बनता गया। इन तीव्र एवं मर्मान्तिक पीड़ा को झेलते हुए भी निराला ने कभी विपत्ति के सामने झुकना नहीं सीखा। वे निरन्तर साहित्य-साधना में तल्लीन रहे।

निराला की छायावादी युगीन रचनाएँ हैं - अनामिका, परिमल, गीतिका, तुलसी दास,। कुछ समय तक उन्होंने 'मतवाला' और 'समन्वय' नामक पत्रिकाओं का संपादन भी किया। न केवल व्यक्तिगत जीवन में, बल्कि साहित्य के क्षेत्र में भी निराला को भयंकर संघर्ष का सामना करना पड़ा। इसका प्रमुख कारण है उनकी मौलिकता, जो कवि के रीढ़ अहंकार की साहित्यिक अभिव्यक्ति है। सन् 1936 में 'जुही की कली' का प्रकाशन उस युग के साहित्यचेताओं के लिए एक चुनौती बनकर सामने आया। उसमें व्यक्त प्रणय-केलि के चित्र और मुक्तछन्द का शक्तिशाली शिल्प-दोनों ही तत्कालीन मान्यताओं से मेल नहीं खाते थे। किन्तु निराला अपनी धुन के पक्के और फक्कड़ स्वभाव के व्यक्ति थे। अतः किसी की परवाह किये बिना अपनी साधना बरकरार रखी। निराला के काव्य में शुरू से ही विविधता के दर्शन होते हैं। यह विविधता भावगत भी है और भावगत भी, विचारगत भी है और शिल्पगत भी। जैसे, 'परिमल' में गीत भी हैं और मुक्त छन्द भी, मधुर भाव से अनुप्राणित प्रणयगीत भी हैं और ओजपूर्ण रचनाएँ भी। उसमें 'अधिवास' और 'पंचवटी-प्रसंग' जैसी दर्शन प्रधान रचनाएँ भी हैं और 'भिक्षुक' तथा 'विधवा' जैसी कविताएँ भी, जिनमें यथार्थ का तीव्र दंश दिखाई देता है। निराला की एक ही समय की रचनाओं में परिलक्षित अनेकरूपता सम्भवतः उनके अध्ययन के लिए सबसे अधिक महत्वपूर्ण संकेत है। अन्य कवियों की, जैसे पंत की अनेकरूपता काल-सापेक्ष है- जैसे जैसे समय परिवर्तित होता है, कवि यथार्थ के नये स्तरों और आयामों के प्रति सजग होता चलता है।

निराला की रचनाओं पर दर्शन का प्रत्यक्ष और गम्भीर प्रभाव है। 'अधिवास', 'पंचवटी-प्रसंग', 'तुम और मैं' आदि रचनाओं में कवि ने दार्शनिक सत्य को रूपायित करने का प्रयास किया है। 'परिमल' और 'गीतिका' में प्रार्थना और वन्दना के गीत भी मिलते हैं जो मध्यकालीन भक्ति परम्परा से जोड़े जा सकते हैं। आध्यात्मिकता के प्रति निष्ठा होने के कारण कवि में कहीं कहीं रहस्यवादी भावना के भी दर्शन होते हैं। यह आध्यात्मिकता

सहज ही कवि की सांस्कृतिक-चेतना से समन्वित हो जाती है। निराला में भी पुनर्जागरण के प्रभाव के फलस्वरूप प्राचीन भारतीय परम्परा के प्रति निष्ठा का भाव है और वे भी भारतीय संस्कृति के उन मूल्यों के संधान का प्रयास करते हैं जो वर्तमान जीवन को प्रेरणा दे सके।

'तुलसीदास' में कवि ने गोस्वामी तुलसी दास के माध्यम से भारतीय परम्परा के गौरवशाली मूल्यों की प्रतिष्ठा का प्रयास किया है। काव्य के आरम्भ में कवि ने मध्यकालीन भारत की पतित अवस्था का चित्रण किया है जिसका कारण है भारत पर विदेशी शासन की स्थापना। इस संदर्भ में निराला ने जीवन के सभी पक्षों के विघटन और ह्रास का शक्तिशाली चित्रण किया है। इस भूमिका के द्वारा उन्होंने नायक के सामाजिक परिवेश को अंकित किया है, किन्तु अभी तक तुलसी दास इस विघटन के प्रति सजग नहीं हैं। फिर वे अपने मित्रों के साथ घूमने के लिए चित्रकूट जाते हैं। वहाँ प्रकृति की निर्मल और सात्विक शोभा से उनका हृदय आन्दोलित हो उठता है। उधर रत्नावली के रूप का सम्मोहन तुलसी दास की चेतना के ग्रस लेता है। जब वे बिना बुलाये पत्नी से मिलने उसके नैहर पहुँच जाते हैं, तो रत्नावली की कटूक्तियों से उनकी चेतना मुक्त होती है और ऊर्ध्व की ओर संचरण करने लगजाती है। इसप्रकार कवि ने व्यक्तिगत सुख और जीवन के महान एवं व्यापक मूल्यों के बीच संघर्ष दिखला कर अन्त में उदात्त मूल्यों की विजय दिखाई है।

'राम की शक्तिपूजा' निराला की ही नहीं, सम्पूर्ण छायावादी काव्य की एक उत्कृष्ट उपलब्धि है। इसमें कवि ने एक ऐतिहासिक प्रसंग के द्वारा धर्म और अधर्म के शाश्वत संघर्ष का चित्रण किया है। राम धर्म के प्रतीक हैं और रावण अधर्म का। इस कविता में अधर्म का चित्रण एक प्रचण्ड शक्ति के रूप में हुआ है, जिसके सामने एक बार तो राम का साहस भी कुण्ठित होने लगता है। यह स्थिति एक ओर तो कवि के व्यक्तिगत जीवन के भयानक संघर्ष से सम्बद्ध हो जाती है और दूसरी ओर युगीन यथार्थ की विकरालता को भी अंकित करती है। अन्त में राम शक्ति की 'मौलिक कल्पना' करते हैं, उसकी आराधना करते हैं और अधर्म के विनाश के लिए सक्षम होते हैं। शक्ति की उपासना में एक ओर तो परम्परागत सत्य की स्वीकृति का संकेत निहित है और दूसरी ओर 'मौलिक कल्पना' इस बात पर बल देती है कि प्राचीन सांस्कृतिक आदर्शों का युगानुरूप संशोधन अनिवार्य है।

निराला की अधिकांश रचनाओं की भाषा संस्कृत गर्भित है और उसमें समास की अधिकता है। पदों के प्रयोग में कवि ने गेयता का विशेष ध्यान रखा है। प्रायः कवि ने समस्त पदावली के प्रयोग द्वारा उपयुक्त लय और अर्थ-गाम्भीर्य की

अभिव्यक्ति की है। 'राम की शक्तिपूजा' में राम-रावण युद्ध का वर्णन करते हुए कवि कहता है - "

प्रतिपल-परिवर्तित-व्यूह, भेद-कौशल-समूह,
राक्षस-विरुद्ध-प्रत्यूह, क्रुद्ध-कपि-विषम-हूह,
विच्छुरित वह्नि-राजीवनयन-हत-लक्ष्य-बाण,
लोहित लोचन-रावण-मदमोचन-महीयान।

महादेवी वर्मा (सन् 1907 - 1987 ई.)

उत्तर प्रदेश के फर्रुखाबाद कस्बे में जन्मी महादेवी को जहाँ माँ से आस्तिकता और पिता से दार्शनिकता का संस्कार मिला, वह रहस्यवादी बनने लगी। उनके व्यक्तित्व-निर्माण में परिणय-सूत्र की विच्छिन्नता कम महत्वपूर्ण नहीं है। नारी की सहज पीड़ा विश्ववेदना के रूप में परिणत होती गई। विश्ववेदना में व्यक्ति-वेदना को मिला देने की साधना महादेवी के लिए मोक्ष साधना बन गई। बचपन से ही भगवान बुद्ध के प्रति भक्तिमय अनुराग ने दुखात्मक अनुभूति को दार्शनिक महिमा से मण्डित कर दिया।

नीहार, रश्मि, नीरजा और सान्ध्यगीत महादेवी के छायावाद काल के काव्य-संग्रह हैं। 'यामा' नामक ग्रंथ में उपर्युक्त चार संग्रहों में से एक सौ पचासी गीत संगृहीत हैं। 'दीपशिखा' एवं 'सांधिनी' नाम से भी इनके गीतों का प्रकाशन हुआ है। महादेवी जी का मूल स्वर प्रणय है। यह प्रणयानुभूति आत्मिक, असीम तथा विराट के प्रेम से जाग्रत है, जिसमें पीड़ा सहन करते हुए अपनी अस्मिता को बनाये रखने की कामना है। परम सत्ता के प्रति निवेदित प्रेम में रहस्यवाद का आ जाना स्वाभाविक है किन्तु यह रहस्यवाद मध्यकालीन संतों के साधनात्मक रहस्यवाद से भिन्न है। महादेवी का पूरा व्यक्तित्व नहीं, बल्कि कवि-व्यक्तित्व ही इस रहस्य भावना में मग्न होता है। उसमें कवि अनुभूति की प्रामाणिकता है जीवन के वैराग्य से उत्पन्न साधनात्मक वैयक्तिक अनुभूति की समग्रता नहीं। प्रणय, रहस्य तथा वेदनानुभूति महादेवी की कविताओं में संश्लिष्ट तथा सघन है। उनमें पारस्परिक अन्विति है। यही नहीं सारी मनुष्यता को एक सूत्र में पिरोनेवाले गीत का मूल भाव दुःख ही है।

महादेवी के शब्दों में, "दुःख मेरे निकट जीवन का ऐसा काव्य है जो सारे संसार को एक सूत्र में बाँध रखने की क्षमता रखता है। हमारे असंख्य सुख हमें चाहे मनुष्यता की पहली सीढ़ी तक भी न पहुँचा सकें किन्तु हमारा एक बूँद आँसू भी जीवन को अधिक मधुर, उर्वर बनाये बिना नहीं गिर सकता।" महादेवी के आरम्भिक गीतों से व्यक्त आर्त, क्रन्दन तथा हाहाकार से संयम के बाँध टूट जाते हैं। धीरे-धीरे गीत आत्मसंयम में बँधते जाते हैं।

महादेवी की काव्यशैली लाक्षणिकता, मूर्तिमत्ता, सूक्ष्मता, मधुरता तथा संगीतात्मकता से मण्डित है। प्रगीतात्मकता यद्यपि छायावादी काव्य की प्रमुख विशेषता है। किन्तु महादेवी की कविता तो विशुद्ध प्रगीतों में ही रूप ग्रहण करती है। उन्होंने आत्मानुभूति के किसी भाव विशेष को अनेक रूपों तथा रंगों

सजाया है। थोड़े-से लाक्षणिक शब्दों तथा हल्की रेखाओं द्वारा वह भावचित्र को साकार कर देती है — "

गोधूली अब दीप जला ले !
किरण नाल पर घन के शतदल
कलरव लहर विहग बुदबुद चल
क्षितिज सिन्धु को चली चपल
आभा सरि अपना उर उमगा ले।

वह सुखदुःख की भावावेशमयी अवस्था विशेष का कलात्मक चित्र अंकित कर देती है। महादेवी के गीतों में स्वर-तन्त्रियों में गुम्फित कोमल शब्दावली रेशम पर मोती की भाँति छलक जाती है।

छायावादी युग में ऐसे कवि हुए जो राष्ट्रीय-सांस्कृतिक भावों से जुड़े रहे; लेकिन उनपर छायावादी काव्य-शैली का प्रभाव अवश्य पड़ा है। रामनरेश त्रिपाठी, माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा नवीन, भगवतीचरण वर्मा आदि इसी कोटि के कवि हैं। कवियों का एक दूसरा वर्ग भी है जो छायावादी काव्य-चेतना से सम्बद्ध था, पर परिमाण तथा कला दोनों दृष्टियों से इन्हें कवि रूप में बहुत अधिक ख्याति नहीं मिल पाई। इस कोटि में रामकुमार वर्मा, उदयशंकर भट्ट, ...गा के रचयिता उदयशंकर भट्ट, 'निर्माल्य', 'एक हृत' और 'कल्पना' के रचयिता मोहनलाल महतो वियोगी के नाम उल्लेखनीय हैं।

सजाया है। थोड़े-से लाक्षणिक शब्दों तथा हल्की रेखाओं द्वारा वह भाव-चित्र को साकार कर देती है - "गोधूली अब दीप जला ले।
किरण नाल पर घन के शतदल
कलरव लहर विहग बुदबुद चल
क्षितिज सिन्धु को चली चपल
आभा सरि अपना उर उमगा ले।

वह सुख-दुःख की भावावेशमयी अवस्था विशेष का कलात्मक चित्र अंकित कर देती है। महादेवी के गीतों में स्वर-तन्त्रियों में गुम्फित कोमल शब्दावली रेशम पर मोती की भाँति झलक जाती है। वस्तुतः महादेवी की अनुभूति केवल व्यक्तिपरक आध्यात्मिकता की अनुभूति ही नहीं है। उसमें लोक-कल्याण की भावना भी है जो अडिग आस्था, अटूट साधना और आत्मबलिदान के रूप में गीतों में बिखरी हुई मिलती है। इसप्रकार महादेवी ने मध्यकालीन रहस्य साधना परम्परा को स्वीकार करते हुए उसे लोक-कल्याण के साथ संयुक्त कर अपने युग-बोध के अनुरूप ढालने की कोशिश की है। यह रहस्यवाद का एक नया आयाम है जिसके उद्धारण का श्रेय महादेवी को है। इसकेलिए उन्होंने अभिव्यक्ति की सांकेतिकता और सूक्ष्मता के अतिरिक्त प्रतीक-विधान और आलंकारिकता का भी सफल संयोजन किया है।

छायावाद के अन्य कवि

प्रसाद, पन्त, निराला और महादेवी - कवि-चतुष्टयी के अलावा कतिपय अन्य कवियों ने भी छायावाद के विकास अपना अमूल्य सहयोग दिया है। इनमें प्रथम वर्ग के कवि हैं रामनरेश त्रिपाठी, माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', भगवतीचरण वर्मा आदि, जो प्रमुख रूप से इस युग की अन्य धारा के अन्तर्गत आते हैं, लेकिन युग और प्रमुख साहित्यिक धारा के प्रभाव से छायावादी पद्धति की ओर भी आकृष्ट हुए हैं। दूसरे प्रकार के छायावादी कवि वे हैं जिनकी सम्पूर्ण प्रतिभा छायावादी काव्य के निर्माण में ही लीन रही है, किन्तु उनका काव्य परिमाण की दृष्टि से अधिक नहीं है। रामकुमार वर्मा, उदयशंकर भट्ट, मोहनलाल महतो 'वियोगी', आरसी प्रसाद सिंह, केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' आदि को इस कोटि में रखा जा सकता है।

प्रथम वर्ग के कवियों ने जिस राष्ट्रप्रेम और सांस्कृतिक गौरव का चित्रण किया है, उसकी अभिव्यंजना पद्धति पर छायावादी प्रवृत्तियों का

गहरा प्रभाव है। छायावादी कविता में भी राष्ट्र-प्रेम और सांस्कृतिक गरिमा का चित्रण हुआ है। माखनलाल चतुर्वेदी ने भारतीय प्राकृतिक सुषमा के जो सरस, सजीव और मूर्त चित्र खींचे हैं, वे उन्हें छायावादी कवियों के समीप ले आते हैं। 'अपलक' में नवीन ने स्वानुभूति की आवेशमयी विवृति की है और 'क्वासि' में आध्यात्मिक मूल्यों को रहस्यवादी अनुभूति के रूप में व्यक्त किया है। इसीप्रकार भगवतीचरण वर्मा कृत 'मधुकण' की कुछ कविताओं में प्रणयानुभूति की स्वच्छन्द अभिव्यक्ति मिलती है।

द्वितीय वर्ग के कवियों में सर्वप्रथम रामकुमार वर्मा आते हैं, जिनके 'रूपराशि', 'निशीथ', 'चित्ररेखा', 'आकाशगंगा' आदि काव्य-संग्रहों में छायावादी पद्धति की रचनाएँ संकलित हैं। इस रचनाओं में सर्ववादी-चेतना की अभिव्यक्ति के प्रयास हैं, जो कहीं प्रकृति के विविध रूपों के मानवीकरण के रूप में लक्षित होता है तो कहीं रहस्यवादी संकेतों के रूप में। उदयशंकर भट्ट की अधिकांश काव्य-कृतियाँ छायावादी भावुकता से ओतप्रोत हैं। उनके 'राका', 'मानसी', 'विसर्जन', 'मुक्तदीप', 'अमृत और विष' आदि काव्य-संग्रहों में वैयक्तिक अनुभूति की सूक्ष्मता, सर्ववादी चेतना, प्रकृति के मानवीकरण, अभिव्यक्ति की सांकेतिकता आदि लक्षित की जा सकती हैं। मोहनलाल महतो 'वियोगी' के छायावादी प्रकृति के काव्य-संग्रहों में 'निर्माल्य', 'एक तारा' और 'कल्पना'। इनकी कविताओं में वेदना, रहस्यानुभूति, और उपचारवक्रता का आधिक्य परिलक्षित होता है। लक्ष्मीनारायण मिश्र के 'अन्तर्जगत' नामक कविता-संग्रह में वेदना और व्यथा की अभिव्यक्ति मिलती है। लेकिन इसके पश्चात मिश्र जी काव्य-साधना से हटकर प्रसिद्ध नाटककार बन जाते हैं। जनार्दन झा 'द्विज' के कविता-संग्रह 'अनुभूति' और 'अन्तर्ध्वनि' के नाम से स्पष्ट है कि कवि की चेतना मुख्यतः व्यक्तिनिष्ठ और अन्तर्मुखी है। इनमें वेदना के प्रति वैसी ही आसक्ति है जैसी कि महादेवी जी के गीतों में है; किन्तु यह वेदना जीवन के व्यापक-विराट सत्य अथवा किसी महान उद्देश्य के साथ सम्बद्ध नहीं हो पायी है। इनके अतिरिक्त गोपालसिंह नेपाली, केदारनाथ मिश्र 'प्रभात', आरसी प्रसाद सिंह आदि भी छायावादी काव्यधारा के उल्लेखनीय कवि हैं।

छायावादोत्तर काल

छायावाद की परवर्ती काव्यधारा को छायावादोत्तर काव्य कहा जाता है और प्रगतिवाद के आने तक इसका दौर चलता है जिसे छायावादोत्तर काल अथवा उत्तर छायावादी युग कहा जाता है। इस युग के प्रख्यात कवियों में हरिवंशराय बच्चन, रामधारी सिंह दिनकर, रामेश्वर शुक्ल 'अंचल', शिवमंगलसिंह 'सुमन' आदि के नाम लिये जा सकते हैं। इसके अन्तर्गत छायावादोपरान्त रचित राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविताएँ, वैयक्तिक प्रगीतों की धारा, संघर्ष और द्वन्द्व की कविताएँ, सहजता और प्रशान्ति की कविताएँ तथा प्रेम और मस्ती की कविताएँ पायी जाती हैं।

सामाजिक एवं राजनैतिक परिवर्त्तन के कारण चौथे दशक में बौद्धिक परिवर्त्तन आया, उसकी अनुगूंज तत्कालीन काव्य-जगत में परिलक्षित होना स्वाभाविक है। छायावाद का यथार्थ जहाँ आदर्श की ओर मुखातिब रहता था, वहाँ छायावादोत्तर कवि शुष्क यथार्थ के धरातल पर उतर कर बात करता है। तभी उसके आदर्श और यथार्थ में द्वन्द्व की स्थिति तक आ जाती है। इस युग की कतिपय प्रमुख विशेषताओं को इस प्रकार रेखांकित किया जा सकता है:

१. यथार्थ की दृढ़ अभिव्यक्ति

छायावादोत्तर कविता के आरम्भ में आदर्श और यथार्थ में जो तनाव पैदा हुआ था, उसमें यथार्थ ने बाजि मार ली। क्रमशः यथार्थ का दबाव बढ़ता गया। साथ ही कविता में आध्यात्मिक अनुषंग समाप्त हो जाने पर अनुभूत क्षणों की सहज-सरल अभिव्यक्ति आरम्भ हुई। व्यक्तिगत व्यथाएँ व्यक्तिगत अनुभूति के रूप में व्यक्त की गईं, जिसमें किसी आध्यात्मिकता का सहारा लेना समाप्त हो गया।

छायावादी कवि जहाँ धरती और आकाश को एक करने का सपना देख रहा था, वहाँ छायावादोत्तर कवि मिट्टी की ओर उन्मुख होता दिखाई दिया। यथार्थता के प्रति इस आग्रह के कारण वह कल्पना और स्वप्न को अप्रासंगिक मानने लगा। आध्यात्मिकता भी उसे आन्तरिक अनुभव की जगह ओढ़ी हुई दार्शनिकता-सी लगी। वास्तविकता के साथ लगाव के कारण इस युग का काव्य-जगत एक व्यापक वस्तु-जगत से साक्षात्कार करता है। दिनकर जी के शब्दों में यह साफ नजर आता है — "व्योम कुंजों की परी अभि कल्पने
भूमि को निज स्वर्ग पर ललचा नहीं
उड़ न सकते हम तुम्हारे स्वर्ग तक
शक्ति है तो आ बसा अलका यहीं।"

२. संघर्ष का स्वर

छायावादोत्तर कविता में युगीन वास्तविकता सामाजिक व राजनीतिक आन्दोलनों से प्रेरित होकर काव्य में संघर्ष के सीधे चित्रण के रूप में व्यक्त हुई। राष्ट्रीय संघर्ष ने काव्य में उग्र राष्ट्रीय स्वरों को ध्वनित किया। वैयक्तिक स्तर पर सामाजिक रूढ़ियों के सीधे नकार तथा मर्यादाओं की उपेक्षा के रूप में यह संघर्ष अभिव्यक्त हुआ। इस कविता में संघर्ष और तज्जन्य असफलता से उत्पन्न निराशा, हताशा और अवसाद के भी चित्र मिलते हैं। बच्चन, अंचल, नवीन आदि की कविताओं में इसके उदाहरण मिलते हैं।

३. हृदय और बुद्धि का द्वन्द्व

हृदय और बुद्धि का द्वन्द्व छायावाद से ही प्रारम्भ हो गया था। प्रसाद जी ने 'कामायनी' में इसे ऐसा दर्शाया कि आगे चलकर छायावादोत्तर कवियों ने भी इससे प्रेरणा ली। परिवर्तित यथार्थ के साथ पुराने आदर्श को हू-ब-हू स्वीकार करलेने पर जो असामंजस्य की स्थिति उत्पन्न होती है उसी का एक लक्ष्य हृदय और बुद्धि के द्वन्द्व के रूप में प्रकट हुआ। प्रसाद जी का अनुसरण करते हुए दिनकर, बच्चन, अंचल, नरेन्द्र, नवीन आदि उत्तर-छायावादी कवियों ने अपनी रचनाओं में हृदय या भावना को बुद्धि या तर्क पर वरीयता दी। बुद्धि इन्हें बेधड़क कर्म-पथ पर जाने से बरजती है, इसलिए 'मानव-धर्म' दर्शनों से अधिक स्वीकार्य जान पड़ता है और बुद्धि-बल की अपेक्षा रक्त के आवेग से प्रेरित बाहु-बल की आवश्यकता जान पड़ती है।

जिस बदलते यथार्थ के कारण यह प्रवृत्ति आ रही थी, वह यथार्थ स्वयं तर्क और बौद्धिकता प्रेरित आधुनिक ज्ञान के दबाव में निर्मित हो रहा था। हृदय पर बल देना अपनी भावनाओं और नीयत की ईमानदारी पर बल देना था। उद्देश्य की जाँच बौद्धिक विवेक की माँग करती थी जिससे ये बचते रहे। हृदय और बुद्धि के द्वन्द्व को हृदयवाद के सरलीकरण से परिभाषित करने पर भी ये उस 'शून्यता' को नहीं भर सके जो कल्पनाशील और राजनैतिक के बीच में दरार पड़ जाने से पैदा हुई थी। उदाहरणार्थ,

"पाँव चलने को विवश थे जब विवेक-विहीन था मन,
आज हो मस्तिष्क धूमिल कर चुके पथ के मलिक कण।"

मन का यह विभाजन बाह्य और आभ्यन्तरिक द्वन्द्व में व्यक्त हुआ। बाह्य रूप आदर्श, मर्यादा, ज्ञान, सामाजिकता का प्रतिनिधित्व करता था,

अतएव क्रूर, जड़ और कठोर था, वहीं आभ्यन्तरीण रूप ही असली और सहज माना गया। छायावादोत्तर कवियों ने आभ्यन्तरीण मनुष्य और उसकी सहजता को ही स्वीकार किया।

४. मानव की सरलता एवं सहजता

जाहिर है कि आभ्यन्तरीण मनुष्य की सहजता एवं स्वाभाविकता को स्वीकार की जाने पर छायावादोत्तर कविता में एक सरल निष्कपट मनुष्य की अभिव्यक्ति रहती है, जो अपने हृदय की पुकार सुनता है, रक्त के आवेग पर विश्वास करता है। अपनी भावनाओं छिपाकर छल-छद्म के सहारे वह अपनी वकालत नहीं करता, बल्कि बड़ी ही सहजता से, स्वाभाविकता से हृदय की अभिव्यक्ति करता है। दिनकर जी के शब्दों में,

"रक्त बुद्धि से अधिक बली है और अधिक ज्ञानी भी,
क्योंकि बुद्धि सोचती और शोणित अनुभव करता है।"

इस युग का कवि तर्क-जाल से उलझना नहीं चाहता, बल्कि अपनी प्रवृत्तियों के बहाव के अनुकूल आगे बढ़ता जाता है, फिर चाहे वह 'अग्नि पथ' ही क्यों न हो। अपने खुलेपन, ईमानदारी प्रवृत्तियों के सहज स्वीकार के कारण उसे अक्सर गलत समझा जाता है, फिर भी वह इससे रत्ती भर भी विचलित नहीं होता क्योंकि उसके दिल में कोई खोट नहीं है, वह दिल का साफ है।

५. आवेग, मौज-मस्ती और फक्कड़पन

हृदय के सहज-स्वाभाविक आवेग को प्रमुखता देने तथा लक्ष्य और आदर्श बेझिझक स्वीकार कर लेने से काव्य में एक प्रकार स्वच्छन्द मौज-मस्ती और फक्कड़पन की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। यह मस्ती जीवन-व्यापार के प्रवाह के रास्ते के दार्शनिक प्रश्नों को टाल जाती है। परिणामतः काव्य में एक कृत्रिम गम्भीरता का अभाव लक्षित होता है और उसकी जगह आवेगमयता के दर्शन होते हैं। अगर कहीं दार्शनिक प्रश्न आते भी हैं वहाँ अनुभूति के स्थान पर शास्त्र ही महत्वपूर्ण हो जाता है। नवीन की कतिपय कविताओं में 'क्वासि' या 'काऽहं', 'सोऽहं' की मुद्राएँ इसी प्रवृत्ति की द्योतक हैं, वहाँ सीधे औपनिषदिक शब्दावली उठा ली गई है। इस प्रकार कविता से विवेक अपदस्थ होने लगता है और एक विचारक्षीणता हावी होने लगती है।

वस्तुतः छायावाद से ही छायावादोत्तर कविता विकसित हुई है। लेकिन यह विकास विभिन्न धाराओं में हुई है। एक तरफ छायावादी

रूढ़ि-विद्रोह को यथार्थ-चेतना का आधार मिलता है तो दूसरी तरफ परिवर्तित यथार्थ-चेतना के अनुरूप नया काव्य-विधान विकसित नहीं हो पाता। एक ओर यथार्थ और आधुनिकता का दबाव एक नीति-निरपेक्ष मानवतावाद को काव्य में अभिव्यक्ति दे रहा था, लेकिन पुरानी नैतिकता के आदर्शों को अस्वीकार नहीं किया जा रहा था। इस दृष्टि से उत्तर-छायावादी कविता छायावाद और नई कविता के बीच की कड़ी लगती है। सन् 1936 तक आते आते छायावादी काव्यधारा अनेकमुखी हो गई थी। एकतरफ जहाँ राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता के रूप में यह बहुचर्चित हो रही थी, वहाँ प्रेम और मस्ती की कविता की एक धारा हालावाद के नाम से हलचल मचा रही थी। फिर आगे बाहरी प्रभाव से कभी प्रगतिवादी तो कभी प्रयोगवादी धारा बनकर काव्य की धारा तेजी से आगे बढ़ने लगी।

राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्य आन्दोलन का मूल स्रोत भारतेन्दु-कालीन काव्य-धाराओं में खोजा जा सकता है। फिर द्विवेदीयुगीन काव्यधारा ने अतीत गौरवबोध से इसे संपुष्ट किया। लेकिन छायावादीयुगीन राष्ट्रीयता मुख्य मानव-ऐक्य के आदर्श पर आधारित है। इसमें प्रादेशिकता का आग्रह कम है और और विशाल मानव-ऐक्य की भावना अधिक है। साथ ही उसमें एक सामाजिक चेतना का प्राधान्य भी है। वास्तविकता का आग्रह, यथार्थ-चेतना की प्रखरता के साथ साथ संघर्षात्मकता की अभिव्यक्ति और आवेग प्रधानता आलोच्य काल के कवियों की सामान्य विशेषताएँ रही हैं। माखनलाल चतुर्वेदी ने विद्रोह, देशभक्ति और प्रेम की कई कविताएँ रची हैं। बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' भी उसी समय देशप्रेम और विद्रोह का स्वर सुनाकर समाज में मानों विस्फोट पैदा कर दिया -

" कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ
जिससे उथल-पुथल मच जाए
नियम और उपनियमों के ये
बंधन टूक-टूक हो जाएँ
विश्वभर की पोषक वीणा के
ये सब तार मूक हो जाएँ ! "

इस युग की काव्य-धारा का सर्वाधिक प्रतिनिधित्व करनेवाले कवि हैं रामधारी सिंह 'दिनकर'। सियारामशरण गुप्त एवं सोहनलाल द्विवेदी की कविताएँ गाँधीवादी चेतना की वाहक हैं। इस धारा की कविताओं में पराधीनता के प्रति आक्रोश, राजनैतिक विद्रोह, अतीत का गौरव-गान, बलिदान की आकांक्षा, सामाजिक विषमता व

कुरीतियों का विरोध आदि के साथ साथ समस्याओं के तत्कालिक समाधान के प्रति आग्रह दिखाई देता है जो कि इन कविताओं में एक उद्दाम आवेग भरता है। लेकिन तत्कालिक समाधान की आशा टूटने पर निराशा और हताशा के करुण स्वर निकलने लगते हैं।

सामाजिक चेतना के स्वर जिन कवियों में प्रमुख थे वे प्रगतिशील काव्यधारा से भी जुड़े। शिवमंगल सिंह 'सुमन', रामेश्वर शुक्ल 'अंचल', नरेन्द्र शर्मा आदि ऐसे ही कवि हैं। सांस्कृतिक अतीत के गौरव-गान से अलग तात्कालिक राष्ट्रीय समस्याओं को अतीत में प्रक्षेपित कर रामधारी सिंह 'दिनकर' ने कुरुक्षेत्र, रश्मिरथी, जयभारत, नकुल, विक्रमादित्य जैसे प्रबन्धकाव्य रचे। लेकिन वैयक्तिक प्रेम और तज्जन्य निराशा के गीत छायावाद से ही रचे जाने शुरु हो गये थे जिसे लौकिक धरातल से ऊपर उठकर आध्यात्मिकता एवं दार्शनिकता की आभा दी जा रही थी। छायावादोत्तर काल में शुद्ध लौकिक धरातल पर कविता को मन और शरीर तक ही सीमित रखा गया। सौन्दर्य के प्रति सहज, स्वाभाविक आकर्षण, उसकी प्राप्ति की आकांक्षा, तथा इस प्रयत्न की असफलता से उत्पन्न निराशा का सीधा-सा क्रम इन कविताओं में है। एक उद्दाम मस्ती और मादकता में इस काल के कवि कोई बन्धन नहीं मानते। इनके सामने न तो कोई आदर्श है अथवा उद्देश्य, अपने फक्कड़पन के सामने ये लोकापवाद तक की परवाह नहीं करते। बिना किसी दुराव-छिपाव के प्रेम का स्वच्छन्द और उन्मुख अभिव्यक्ति करना पसन्द करते हैं। स्वयं बच्चन के शब्दों में,

"मैं छिपाना जानता तो जग मुझे साधु समझता!
शत्रु मेरा बन गया है छलरहित व्यवहार मेरा।"

मस्ती, नशे और खुमार की आलम में ये कवि यथार्थ की परवाह नहीं करते। कहा जाता है कि प्रसिद्ध ओमर खैय्याम का प्रभाव इन नौजवान कवियों पर देखा जाता है जो मौज-मस्ती को ही अपना आदर्श मानते हैं। इसीलिए व्यंग्यात्मक रूप से इन्हें 'हालावादी' कवि कहा जाता है। हजारीप्रसाद द्विवेदी इस सम्बन्ध में कहते हैं - "वस्तुतः यह 'हाला' एक प्रतीक मात्र है जो तत्कालीन प्रचलित झूठी आध्यात्मिकता के प्रतिवाद का एक प्रतीक मात्र था। मूलतः बच्चन की कविता मस्ती, उमंग और उल्लास की कविता है। इस असंकुचित और आत्मकेन्द्रित मस्ती का एक और रूप भगवतीचरण वर्मा की कविताओं में दृष्टिगत होता है -

"हम दीवानों की क्या हस्ती, हम आज यहाँ कल वहाँ चले;
मस्ती का आलम साथ चला हम धूल उड़ाते जहाँ चले।"

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', नरेन्द्र शर्मा, अंचल आदि की कविताओं में अकुण्ठ प्रेम और यथार्थ की टकराहट से उसके टूक-टूक हो जाने के

वर्णन है। मस्ती, फक्कड़पन, आवेग के इस काव्यान्दोलन में सर्वाधिक लोकप्रियता बच्चन जी को मिली। उनकी 'मधुशाला' ने मानों तत्कालीन समाज को अपूर्व मादकता में भर दिया। इसी मस्ती में बच्चन जी सिन्धु की लहरों के निमन्त्रण को अनदेखा कर तीर पर रुकना नहीं चाहते, न ही छायावादियों की भाँति 'उस पार' ले जाने के लिए 'नाविक' से आग्रह करते हैं, बल्कि इस पार के ही भोग-विलास को श्रेयस्कर मानते हैं -

" इस पार प्रिये मधु है, तुम हो
उस पार न जाने क्या होगा !"

कुलमिलाकर यह लौकिक धरातल के प्रेम तथा उससे उत्पन्न उल्लास, मस्ती, मादकता, निराशा, हताशा, कुण्ठा की कविता है। इस धारा में जो निराशा और पराजय का स्वर है, वह न केवल प्रेम की असफलता है, बल्कि जीवन के अन्य संदर्भों की भी है। डा. विजयदेव नारायण साही के शब्दों में, "बच्चन की रूपकोक्तियाँ, दिनकर का रिटॉरिक, भगवतीचरण वर्मा की लापरवाही दीवानगी, नवीन का वलवला, अंचल का उबाल, नरेन्द्र शर्मा का नफीस ऐश्वर्य - इन सब में गंभीरता के अभाव की छाया है। कुल मिलाकर लगता है, जैसे अंग्रेजी कवि बायरन के पचास टुकड़े कर दिए गए हों और उनमें से कुछ टुकड़े इन तमाम कवियों की 'जवानी' में अलग अलग जज्ब कर दिए गये हों।" इस वैचारिक धारा में अक्सर विद्रोह के स्वर भी सुनाई पड़ते हैं किन्तु वह विद्रोह सामाजिक असन्तोष और व्यक्तिगत अस्वीकृति से उत्पन्न होते हुए भी भावावेशजन्य है, उसमें कोई रचनात्मक चिन्तन या दृष्टि नहीं मिलती। इनमें छायावादी कवियों का न उल्लास है और न राष्ट्रीयता, न ही आदर्श के प्रति मोह। विराट सत्ता से अपने को अलग करके उन्होंने अपने भोगे हुए जीवन को अभिव्यक्ति दी है, छोटे-छोटे अनुभव-खण्डों को साफ-सुथरी रोजमर्रा की भाषा में बाँधा है।

वस्तुतः आधुनिक हिन्दी कविता की सर्वाधिक लोकप्रिय काव्यधारा छायावादोत्तर काव्य-धारा ही रही है। इसका कारण एक तरफ इसकी आवेगमयता और भाव-सरलता है तो दूसरी तरफ इसकी काव्यभाषा की सफाई और सरलता भी है।

भाषा के स्तर पर छायावादोत्तर कवियों ने संप्रेषणीयता और सहजता का सदा ध्यान रखा है। संस्कृत शब्दों में कमी के साथ-साथ बच्चन, अंचल, भगवतीचरण वर्मा ने उर्दू कविता की खुमारी और मादकता से हिन्दी कविता को सम्पन्न किया। बच्चन की 'मधुशाला', तथा भगवतीचरण वर्मा की 'दीवानों की हस्ती' कविता में उर्दू शब्दावली, लय और मुहावरों के प्रयोग ने काव्यभाषा के खुलेपन और प्रवाहमयता को और भी समृद्ध किया। नरेन्द्र शर्मा की कविताओं में 'कोट', 'बटन होल' जैसे अंग्रेजी शब्द भी मिल जाते हैं।

छायावादोत्तर काल के प्रमुख कवि

हरिवंश राय बच्चन (1907-

छायावादोत्तर काल के श्रेष्ठ कवि के रूप में जाने और माने जाते हैं। इनकी रचनाओं में जो औदात्य एवं गौरव है वह अनन्य है। बच्चन जी ने कविता को जमीन पर उतारा, उसे इहलौकिक जीवन से सम्बद्ध किया और उसकी सीमा का विस्तार भी किया। भावनापरक होते हुए भी बच्चन अपनी भावनाओं को धरती पर ही कायम रखते हैं, लोक की सीमा का अतिक्रमण नहीं करते।

मधुशाला (1933), मधुबाला (1936) एवं मधुकलश (1937) पर ओमरखैय्याम की गहरी छाप स्वीकार करते हैं बच्चन। उनके द्वारा खैय्याम की रुबाइयों का अनुवाद भी इसी समय 1935 में प्रकाशित हुआ था। खैय्याम और बच्चन में अन्तर यह है कि पहले का क्षणवाद मृत्युभीति से पीड़ित है तो दूसरे का मृत्यु के अन्तर्भाव में उल्लसित। 'मधुशाला' की लोकप्रियता का एक कारण है स्वच्छन्दतावादी निषेध का निषेध। मधुबाला और 'मधुकलश' में वह जीवन-जगत की समस्याओं से निकट का साक्षात्कार करता है। अपने परिचय में कवि कहता है - "मिट्टी का तन, मस्ती का मन, क्षण भर जीवन मेरा परिचय।" फिर "उल्लास-चपल, उन्माद तरल, प्रतिपल पागल - मेरा परिचय।" हालाँकि यौवन के प्रति कवि की गहन आस्था भी जीवन की आस्था का ही द्योतक है।

अपने काव्यिक विकास के द्वितीय चरण में प्रवेश करते हैं बच्चन आजादी के बाद। इसी दौरान उनकी तीन प्रमुख कृतियाँ प्रकाशित होती हैं - 'निशा-निमन्त्रण', 'एकांत संगीत' और 'आकुल अन्तर'। 'मधुकलश' में उनका जो भरा-पूरा जीवन था, उन्मत्तता थी, यहाँ आकर वेदना, निराशा और अकेलेपन की काली घटा से घिर जाता है। पत्नी की मृत्यु से, सम्भवतः कवि को जो चोट लगी है, उसीसे उद्भुत गम्भीर उद्‌गार इस उत्तरार्द्ध की कविताओं में पायी जाती है। इसी शोक-गीत में जो अनुभूत्यात्मक गाम्भीर्य उभर कर आया, वह कवि को उदारता की ओर ले जाता है। इसी कारण 'निशा निमन्त्रण' बच्चन की सशक्त रचना मानी जाती है। इस शोकगीत में चिड़ियों के नीड़, सन्ध्या, पतझड़, पपीहा, उडु, चाँदनी आदि के माध्यम से कवि अपनी दुःखाभिव्यक्ति करता है। ये सभी प्रतीक पुराने हैं, लेकिन उन्हें पूरे संदर्भ में कहीं विसंगति और कहीं सादृश्य के परिप्रेक्ष्य में रखकर अनुभूति को गहरा कर दिया गया है। चिड़ियों की नीड़ में पहुँचने की आतुरता, बच्चों की सुधियाँ कवि को बहुत निरीह और अकेला बना देती हैं क्या उनका नीड़ नष्ट हो चुका है।

'एकान्त संगीत' में कवि अपनी वेदना से उबरने की कोशिश करता है। वह सवाल करता है - "अस्त जो मेरा सितारा था हुआ, फिर जगमगाया? पूछता पाता न उत्तर।" फिर अपने आप उत्तर करता हुआ आन्तरिक बल घनीभूत करता हुआ दृढ़ आस्था का परिचय देता है - "अतशीश मगर नतशीश नहीं।" कवि का स्वाभिमान जाग उठता है। अग्निपथ पर चलने के लिए वह कमर कस लेता है - "अग्निपथ! अग्निपथ! अग्निपथ!

वृक्ष भले हों खड़े,
हों घने हों बड़े,
एक पत्र-छाँह भी माँग मत, माँग मत, माँग मत!
+ + +
यह महान दृश्य है -
चल रहा मनुष्य है
अश्रु-स्वेद-रक्त से लथपथ, लथपथ, लथपथ!"

'निशा-निमन्त्रण' में आत्मान्वेषण की जो प्रक्रिया शुरू हुई तो वह 'एकान्त संगीत' में आकर रह पकड़ लेती है। लेकिन अभी उसकी खोज जारी है। 'आकुल अन्तर' में भी वह खोज और अधिक तीव्रतर हो जाता है। 'सतरंगिनी' से मिलनयामिनी', 'प्रणय पत्रिका' तक इसके विकास अगला चरण है। इसीबीच 'बंगाल का काल', 'हलाहल', 'सूत की माला' और 'खादी के फूल' जैसी अनुभूतिशून्य सामाजिक-राजनीतिक रचनाएँ भी लिखी गईं। 'धार के इधर-उधर', 'आरती और अंगारे', बुद्ध नाचघर, त्रिभंगिमा, चार खेमे चौंसठ खूँटे आदि में उनकी विषयवस्तु व्यापक हो गई है। विषय-वैविध्य के साथ साथ बच्चन की भाषा-शैली और वाक्य-विन्यास परवर्ती कवियों के लिए आदर्श रहा है।

नरेन्द्र शर्मा (1913-)

बच्चन की भाँति न तो मार्गान्वेषी हैं और न भाषा के नए प्रयोग के प्रति सचेत। फिर भी उनका काव्य नयेपन की सूचना देता है। 'शूलफूल' और 'कर्णफूल' से चुनी हुई कविताओं का संग्रह 'प्रभातफेरी' में चर्चा में आये फिर 'प्रवासी के गीत' के लिए अत्यन्त लोकप्रिय व चर्चित हुए। इस ग्रंथ में संगृहित विरह-गीत छायावादी कवियों से भिन्न लौकिकता की भूमि पर आधारित हैं। इन गीतों में अंचल की योगपरकता न होकर स्मृतिजन्य विह्वलताएँ हैं।

नरेन्द्र शर्मा अन्यतम बहुचर्चित काव्य-ग्रंथ 'पलाश वन' में मुख्यतः प्रकृति के चित्र हैं। कुछ कविताएँ यथार्थवादी चेतना से भी संपृक्त हैं। 'मिट्टी और फूल' को रामविलास शर्मा जैसे आलोचक 'अनामिका' और 'सरस्वती' के बीच की अवधि में प्रकाशित कृतियों में काव्य-विकास की दृष्टि से महत्वपूर्ण मानते हैं। शर्मा जी के ही शब्दों में "नरेन्द्र ने लोकगीतों का स्वर साधने में सबसे ज्यादा सफलता प्राप्त की। "पक्की जामुन के रंग की फाग,

जो बाँधता आया लो आषाढ़" कविता में एक नई सिद्धि थी। कविता यथार्थ की ओर बढ़ रही थी।" इसके अतिरिक्त 'हंसमाला', 'रक्तचन्दन', 'अग्निशस्य', 'कदलीवन', 'उत्तरजय' आदि काव्य-ग्रंथों में प्रकृति-प्रेम, मानव-सौन्दर्य, तज्जन्य विरह-मिलन की अनुभूतियाँ बड़ी आत्मीयता और सरल प्रवहमान भाषा में व्यक्त हुई हैं। रूमानी दृष्टि के साथ साथ इनकी कविताओं में सामाजिक स्वर भी सुनाई देता है।

रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' (1915-)

स्वच्छन्दतावादी काव्य के अशरीरी प्रेम की वायवीयता के विरुद्ध इन्होंने स्वानुभूतिपरक मांसलशरीरी प्रेम के प्रति अपनी आसक्ति को उजागर किया। इसीलिए शुरू से ही अंचल जी छायावाद के पक्षधर नहीं रहे। तभी इन्हें भोगवादी भी कहा गया। जिस क्षणवाद का समर्थन प्रयोगवादी कवियों ने किया था, वह उनसे पहले ही बच्चन, नरेन्द्र और अंचल काव्यों में मिलता है। इसका सर्वाधिक प्रयोग अंचल जी ने किया। उदाहरण के लिए,

प्यास का सागर तुम्हारा, स्वल्प-सा मधु-स्पर्श नारी
जल रहा परितृप्त अंगों में पिपासाकुल पुजारी
है तृषा इतनी विपुल, कितना बनूँगा अब विकल मैं
एक पल के ही दरस में, जल उठी तृष्णा अतल में।

अंचल जी की इस मांसल प्रेम के साथ युग-जीवन का यथार्थ-चित्र भी मिलता है। बीच बीच में प्रगतिवादी स्वरों की मौजूदगी परिलक्षित होती थी। लेकिन कालान्तर में वे पूरी तरह मार्क्सवादी दर्शन की ओर उन्मुख हुए। 'किरणबेला' और 'करील' उनकी दो मार्क्सवादी काव्य-ग्रंथ हैं। लेकिन फिर शरीरासक्ति से मुक्त नहीं पाये। 'मधूलिका', 'अपराजिता', 'लाल-चूनर' 'वर्षान्त के बादल', विराम-चिन्ह आदि काव्य-ग्रंथों में इस प्रवृत्ति के दृष्यान्त पाये जाते हैं।

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' (1897-1960)

एक कर्मठ राजनीतिक कार्यकर्ता, सफल पत्रकार, ओजस्वी वक्ता एवं प्रतिभासम्पन्न कवि के रूप में 'नवीन' जी लोकप्रिय रहे हैं। गणेशशंकर विद्यार्थी के घनिष्ठ सहयोगी थे एवं उनके उपरान्त 'प्रताप' पत्रिका के संपादन का दायित्व सम्भाला, दो-तीन साल तक 'प्रभा' के भी संपादक रहे।

यद्यपि सन् 1917 से उन्होंने लिखना शुरू कर दिया था; लेकिन उनकी महत्वपूर्ण एवं शक्तिशाली रचनाएँ सन् 1936 के बाद ही रची गईं। इनके व्यक्तित्व में जोश, मस्ती, विद्रोह की भावना तथा राष्ट्र के लिए समर्पित होने की

तमन्ना बसी हुई थी। अपने बारे में उनकी स्वीकारोक्ति है -

"हम विषपायी जनम के, सहे अबोल कुबोल" अथवा "ठाठ फकीराना है अपना बाघाम्बर सोहे तन पर।"

राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान देश के नौजवान जिस प्रकार ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध लड़ रहे थे, उन्हें उत्साहित करने हेतु 'नवीन' जी ने उनके जोश को भड़काने की कोशिश की :

"कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ, जिससे उथल-पुथल मच जाये
एक हिलोर इधर से आये, एक हिलोर उधर से आये
प्राणों के लाले पड़ जायें, त्राहि-त्राहि स्वर नभ में छाये
बरसे आग, जलद जल जाये, भस्मसात भूधर हो जाये।"

गान्धीजी के प्रति अपार श्रद्धा रखते हुए भी 'नवीन' जी ने मार्क्सवादी क्रान्ति से अपनी सहानुभूति रखते थे। वे अपने विचार से उग्र थे, पर गान्धीवादी अहिंसा के पक्षधर थे। उन्होंने अपने को 'कर्मठ यथार्थवादी' कहा है। ईश्वरवाद के विरुद्ध नवीन जी का उद्गार शायद हिन्दी साहित्य में पहला उद्गार है -

"और चाटते जूठे पत्ते उस दिन देखा मैंने नर को
उस दिन सोचा, क्यों न लगा दूँ आज आग दुनिया भर को ?
यह सोचा, क्यों न टेंटुआ घोंटा जाय स्वयं जगतिपति का ?
जिसने अपने ही स्वर को रूप दिया इस घृणित विकृति का ?"

कभी कभी 'नवीन' जी श्रृंगारिक कविताएँ भी रचते रहे हैं और कभी कभी मानवीय रहस्य के भीतर भी झाँक लेते थे। उनकी गहरी सृजन-क्षमता थी, पर सक्रिय राजनीति में उलझे रहने के कारण काव्य-साधना के लिए जो एकाग्रता चाहिए थी, वह उन्हें नहीं मिली। 'कुंकुम', 'रश्मिरेखा', 'अपलक', 'क्वासि', 'विनोबास्तवन', 'हम विषपायी जनम के' उनके काव्य-संग्रह हैं और 'उर्मिला' खण्डकाव्य।

भगवती-चरण वर्मा (1903-1981)

कवि 'नवीन' जी की भाँति वर्मा जी में भी एक तरह की मस्ती और दीवानगी मौजूद है। ललकार और लाचारी उनकी कविता के दो मुख्य स्वर हैं। इन दोनों के ललकार से कभी अराजकता फैलती है तो प्रणय-भावना या लाचारी के गीतों से वातावरण रूमानी हो जाता है। वर्मा जी का ललकार है - "हम दीवानों की क्या हस्ती है आज यहाँ कल वहाँ चले, मस्ती का आलम साथ चला हम धूल उड़ाते जहाँ चले।

दीवानगी, मस्ती का आलम, प्रणय-गीत सम्बन्धी रचनाएँ 'मधुकण' और 'प्रेम-संगीत' में संगृहीत हैं। 'मानव' की रचनाएँ प्रगतिवाद से प्रभावित हैं।

"चली आ रही है भैंसागाड़ी, चूँ-चरर मरर, चूँ-चरर मरर" जैसी लोकप्रिय कविता इसी दृष्टिकोण का परिचायक है।

यद्यपि वर्मा जी काव्य के क्षेत्र में बहुत दिनों तक नहीं रह सके और कथा-साहित्य के क्षेत्र में प्रतिष्ठित हो गये, फिर भी उनकी भाषा, संगीत, खेच्यामी अन्दाज, प्रणयगत नैराश्य आदि का प्रभाव परवर्ती कवियों पर पड़ा, जिनमें प्रमुख रूप से बच्चन, नरेन्द्र शर्मा जैसे सुप्रसिद्ध कवियों के नाम लिये जा सकते हैं।

रामधारी सिंह 'दिनकर' (1908-1974)

दिनकर जी में माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' और भगवतीचरण वर्मा को एक साथ समन्वित, परिष्कृत एवं संयमित रूप से देखा जा सकता है। उनसे मिलती-जुलती राष्ट्रीयता, और श्रृंगारिकता अधिक रचनात्मक, बौद्धिक एवं मर्यादित रूप से दिनकर की कविताओं में अभिव्यक्त है। माखनलाल चतुर्वेदी अथवा एक भारतीय आत्मा के काव्य में भावाकुल उच्छ्वास अन्त तक बना रहा। नवीन जी का कवि-जीवन राजनीतिक जीवन द्वारा दब-सा गया। लेकिन दिनकर का समग्र जीवन साहित्य के लिए समर्पित रहा है। सन् 1920 से 1940 के दौरान अपनी समसामयिकता के प्रति दिनकर जितने सजग और ईमानदार रहे हैं, उतना सजग शायद ही कोई दूसरा कवि होगा। इन दो दशकों के इतिहास के लिए दिनकर की रचनाएँ सर्वाधिक प्रामाणिक हैं।

दिनकर न तो बच्चन, अंचल आदि नव छायावादियों से जुड़े पाते हैं और न प्रगतिवादियों से। उनका अपना एक स्वतन्त्र मार्ग है। कहीं वे गाँधीवाद का समर्थन करते हैं तो कहीं सशस्त्र क्रान्ति का, कहीं प्रकृति और नारी-प्रेम की आकांक्षा व्यक्त करते हैं तो कहीं सर्वहारा के उदय की। कवि के इस अन्तर्विरोध को राष्ट्रीयता की व्याप्ति में समेटा जा सकता है। समय की माँग के अनुरूप उनकी कविता विशिष्ट रूप ग्रहण करती गई। उनकी रचनाएँ समकालीन होती हुई भी समकालीनता को पार कर जाती हैं। उदाहरणार्थ, दिनकर का प्रथम काव्य-संग्रह 'रेणुका' (1935) को ही लिया जाय। इसमें संगृहीत कविताओं में कहीं क्रान्ति का उद्घोष है तो कहीं गौतम बुद्ध की करुणा, ममता और अहिंसा की शीतल छाया है। इसमें कहीं छायावादी रूमानियत है तो कहीं शोषकों के प्रति विक्षोभ का स्वर। यह वैचारिक अन्तर्विरोध कवि का अपना भी है और युगीन अस्थिरता का भी।

'हुंकार' में कवि की राष्ट्रीय तथा क्रान्तिकारी कविताओं का संग्रह है। 'हुंकार' कविता में कवि का स्वर चुनौती भरा है -

"हटो व्योम के मेघ पंथ से स्वर्ग लूटने हम आते हैं
'दूध, दूध' ओ वत्स! तुम्हारा दूध खोजने हम जाते हैं।"

'सामधेनी' में कवि की दृष्टि में किंचित परिवर्तन नजर आता है। 'कलिंग-विजय' तथा 'मेरे स्वदेश' में उनका दृष्टिकोण अलग लगता है। 'रसवंती' में श्रृंगारिक रचनाएँ हैं जो अनुभूति के अभाव में नीरस लगती हैं। 'द्वन्द्वगीत' में जीवन और जगत सम्बन्धी रहस्यों को उभारा गया है।

वस्तुतः 'कुरुक्षेत्र' के प्रकाशन के उपरान्त दिनकर जी का बलिष्ठ कवि व्यक्तित्व सामने आता है। पूर्ववर्ती रचनाओं को 'कुरुक्षेत्र' तक पहुँचने का सोपान समझना चाहिए। पहले की भावनामयता बौद्धिकता से संपृक्त होकर 'कुरुक्षेत्र' को बौद्धिक स्तर पर विचारणीय बना देती है। दो महायुद्ध की लपेट में आकर तथा भावी महायुद्ध की त्रासद आशंका से भयग्रस्त होकर दुनिया के बुद्धिजीवी युद्ध और शान्ति के सम्बन्ध में गम्भीरतापूर्वक विचार करने लगे थे।

वास्तव में युधिष्ठिर और भीष्म के संवाद के माध्यम से अन्याय के विरुद्ध युद्ध का समर्थन किया गया है। शान्ति सत्ताधारियों का हथियार है, जिसके आधार पर यह अपनी सत्ता को अक्षुण्ण रखता है। न्यायोचित अधिकार माँगने से नहीं मिलता, उसे लड़कर लेना पड़ता है। सहिष्णुता, क्षमा, आदि विजेताओं की शोभा है। हारी हुई जाति के लिए सहिष्णुता अभिशाप है। देहबल के आगे आत्मबल की नहीं चलती। अतः अन्याय के प्रतिरोध में युद्ध की अनिवार्यता स्वतः सिद्ध है। लेकिन युद्ध का परिणाम क्या है? चारों ओर उजड़ा हुआ क्षत-विक्षत प्रदेश - भयावह वियावान। महाभारत युद्ध के पश्चात इस स्थिति को देखकर युधिष्ठिर का मन खिन्न हो उठता है और वे पश्चात्ताप से भर उठते हैं। वे भीष्म पितामह के पास जाते हैं और समस्या का समाधान चाहते हैं। भीष्म कहते हैं कि युद्ध प्रकृति जन्य है। जिस तरह तूफान प्रकृति के विकारों का परिणाम है उसी प्रकार युद्ध मानवीय विकारों का। युद्ध रोका नहीं जा सकता, उसका दायित्व किसी एक व्यक्ति पर नहीं है। यह तभी रुक सकता है, जब मानव-मन स्वार्थों से निर्लिप्त हो जाय, सुख में सबका समभाग हो।

दिनकर का दूसरा विशिष्ट प्रबन्ध-काव्य है 'उर्वशी', जिसे गीति-नाट्य भी कहा जाता है। प्रतीकों के माध्यम से सम्पूर्ण कथ्य को भौतिकता से आध्यात्मिकता की ओर ले जाने का प्रयास किया गया है। पुरुरवा और उर्वशी के माध्यम से कवि एक कामाध्यात्म की दुनिया सिरजता है जिसे लेकर आलोचकों में काफी मतभेद है, विशेष रूप से उसकी आधुनिक प्रासंगिकता को लेकर। पुरुरवा

मन का प्रतीक है जो काम-पीड़ा से अत्यधिक व्याकुल है। वह औशीनरी से तृप्त न होकर उर्वशी के साथ निर्बाध विलास में डूब जाता है। लेकिन इस निर्बाध विलास में पृच्छाएँ जगती हैं कि क्या रूप की आराधना का मार्ग आलिंगन नहीं है!' अगर नहीं है तो फिर क्या है। ये सारी पृच्छाएँ तब जगती हैं जब उर्वशी पुरुरवा के गाढ़ालिंगन में बँधी रहती है। इस पर 'उर्वशी' को लेकर आलोचकों ने कई सवाल खड़े कर दिये हैं। क्या रति-सुख की विविध संवेदनाओं की बारीकियाँ और गहराइयाँ नर और नारी के बीच अर्चा का विषय हो सकती है? अगर रति-सुख के स्मरण-चित्र उसके उपस्थित होते हैं तो क्या उन स्मरण-चित्रों में उसे अतीन्द्रिय सत्ता की प्रतीति हो सकती है? हो सकता है कुछ प्रज्ञावान योगियों के लिए ऐसा हो सकता हो, पर साधारण मनुष्य के लिए सम्भव नहीं है।

'रश्मिरथी' (1952), 'परशुराम की प्रतीक्षा' (1963) उनके अन्य प्रबन्धकाव्य हैं जिनमें कर्ण को आधुनिक संदर्भ में रखा गया है और 'परशुराम की प्रतीक्षा' को चीन-भारत के युद्ध के सम्बन्ध में लिखा गया है। 'इतिहास के आँसू', 'धूप और धुआँ', 'दिल्ली', 'नीम के पत्ते', 'नीलकुसुम', 'हारे को हरिनाम' उनके काव्य-संग्रह हैं।

दरअसल दिनकर की कृति का मुख्य केन्द्रबिन्दु 'कुरुक्षेत्र' है। युधिष्ठिर का द्वन्द्व उसमें आधुनिक मनुष्य का द्वन्द्व है जबकि पुरुरवा का द्वन्द्व मध्यकालीन सामन्त का द्वन्द्व है।

इनके अतिरिक्त माखनलाल चतुर्वेदी, सियाराम शरण गुप्त, सोहनलाल द्विवेदी, उदयशंकर भट्ट, गोपाल सिंह 'नेपाली', आरसी प्रसाद सिंह आदि छायावादोत्तर काल के प्रमुख कवि रहे हैं।

UNIT - III

आधुनिक हिन्दी गद्य का विकास

[नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, जीवनी]

नाटक

हिन्दी नाटकों का आरम्भ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से ही माना जाता है। उनसे पूर्व जिन नाट्य-कृतियों का उल्लेख मिलता है, उन्हें नाट्य-कला की दृष्टि से नाटक नहीं, बल्कि पद्यात्मक प्रबन्ध कहना उचित होगा। उनमें प्राणचन्द्र चौहान कृत 'रामायण महानाटक', लछिरामकृत 'करुणाभरण', नेवाज कृत 'शकुंतला', महाराज विश्वनाथ कृत 'आनन्द रघुनन्दन', रघुराय नागर कृत 'सभासार', उदयकृत 'रामकरुणाकर' और 'हनुमान नाटक', अमानत कृत 'इन्दरसभा', गोपालचन्द्र गिरिधर दास कृत 'नहुष', गणेश कवि का 'प्रद्युम्न-विजय', शीतलाप्रसाद त्रिपाठी का 'जानकी मंगल' आदि नाटकों के नाम आते हैं, जो किसी-न-किसी दोष से आधुनिक हिन्दी नाटकों में गिने जाने के लिये तो फीसदी योग्यता नहीं रखते। कोई पौराणिक आख्यान मात्र है तो किसी में नवाबों की महफिल सजाने मात्र की योग्यता है; कोई संस्कृत नाटक का अनुवाद है तो किसी में काव्य-गुणों का अभाव है। इसके कारण के रूप में राष्ट्रीय जीवनोल्लास एवं सांस्कृतिक चेतना का अभाव बताया जाता है।

भारतेन्दु काल :

भारतेन्दु काल राष्ट्रीय जागरण तथा नव सांस्कृतिक चेतना का उन्मेष काल है। इसमें जहाँ एक ओर जन-सामान्य में राष्ट्रीय भावना का उदय हुआ, वहाँ दूसरी ओर सामाजिक और धार्मिक जागरूकता आई। नव जागृति के संक्रमण काल में जन-जीवन में राष्ट्रीयता और सांस्कृतिक चेतना के लिए उस युग में नाटकों का माध्यम अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र इस युग के सर्वश्रेष्ठ नाटककार हैं। अनूदित और मौलिक सब मिलाकर सत्रह नाटकों की रचना की है भारतेन्दु जी ने। 'विद्यासुन्दर', 'रत्नावली', 'कर्पूर मंजरी', 'मुद्राराक्षस' आदि संस्कृत से अनूदित नाटक हैं तो 'दुर्लभ बन्धु' अंग्रेजी से। मौलिक नाटकों में 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'श्री चन्द्रावली', 'विषस्य विषमौषधम्', 'भारत-दुर्दशा', 'नीलदेवी', 'अंधेर नगरी', 'सती प्रताप', 'प्रेमजोगिनी' अत्यन्त लोकप्रिय एवं बहुचर्चित नाटक हैं। प्रवृत्ति-भेद के आधार पर इन नाटकों को पौराणिक, ऐतिहासिक, रोमानी तथा सामयिक उपादानों के आधार पर रचित प्रहसन जैसे वर्गों में रखा जा सकता है।

भारतेन्दु तथा उनके समकालीन नाटककारों ने जीवन के विविध क्षेत्रों से कथावस्तु का चयन किया है। कहीं उनमें सामाजिक और धार्मिक समस्याएँ हैं तो कहीं ऐतिहासिक और पौराणिक इतिवृत्त के व्याज से सांस्कृतिक जागरण का दिव्य-संदेश है और कहीं कहीं उनमें ऐकान्तिक प्रेम का चित्रण है। भारतेन्दु के 'सती प्रताप' और 'नीलदेवी' में आर्य ललनाओं के लिए भारतीय

संस्कृति की महत्ता का शुभ सन्देश है। भारतेन्दु के इन नाटकों का उद्देश्य चरित्र सुधार है, जिसे इन्होंने 'सत्यहरिश्चन्द्र' की भूमिका में स्पष्ट कर दिया है। 'प्रेमजोगिनी' में भारतेन्दु ने अनेक प्रकार की सामाजिक समस्याओं का चित्रण किया है।

भारतेन्दु के 'भारत दुर्दशा' में राष्ट्रप्रेम का उभरा हुआ रूप है। इसके जरिए नाटककार ने अंग्रेजों की असलियत के बारे में जनसाधारण को आगाह कर दिया –

"अंग्रेज राज सुख साज सजे सब भारी।
पै धन विदेश चली जात है अति ख्वारी॥

इसके साथ ही भारतेन्दु ने व्यंग्य-विनोदपूर्ण प्रहसनों की भी कई चित्ताकर्षक सृष्टि की है। सामाजिक जीवन की असंगति-विसंगतियों के साथ साथ मिथ्या धार्मिक आडम्बरों पर भी इन्होंने तीखी और मीठी चोट की है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में भारतेन्दु ने मांस-भक्षियों पर करारा व्यंग्य किया है तो 'अन्धेर नगरी' तत्कालीन प्रशासन एवं पुलिस व्यवस्था पर व्यंग्य-बाण बरसाया।

अतीत की स्वस्थ कथाओं और उदात्त-चरित्रों से शक्ति संचय के उद्देश्य से इस युग के अन्य नाटककारों ने भी भारतेन्दु का मार्ग अनुसरण किया। श्रीनिवास दास के 'संयोगिता स्वयंवर', राधाकृष्ण दास के 'महाराणा प्रताप' एवं प्रतापनारायण मिश्र के 'हमीर हठ' इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। सामाजिक समस्याओं को लेकर राधाकृष्णदास का 'दुखिनीबाला' एवं प्रतापनारायण के 'गोसंकट' नाटक काफी लोकादृत हुए हैं। इस समय भारतेन्दु की ही भाँति राष्ट्रीय भावना जगाने-वाले कतिपय नाटक भी लिखे गये। बालकृष्ण भट्ट के 'शिक्षादान', राधाचरण गोस्वामी के 'बूढ़े मुँह मुँहासे' आदि ऐसे ही नाटक हैं। पौराणिक नाटकों की रचना में भारतेन्दु की ही भाँति अम्बिकादत्त व्यास कृत 'ललिता', हरिहरदत्त दुबे कृत 'महारास', खड्गबहादुर मल्ल कृत 'कल्पवृक्ष', सूर्यनारायण सिंह कृत 'शमानुराग नाटिका', चन्द शर्मा कृत 'उषाहरण', अयोध्यासिंह उपाध्याय कृत 'प्रद्युम्न विजय' एवं 'रुक्मिणी परिणय', देवकीनन्दन खत्री कृत 'सीताहरण' और 'रामलीला', ज्वालाप्रसाद मिश्र कृत 'सीता वनवास', श्रीनिवास दास कृत 'प्रह्लाद चरित्र', बालकृष्ण भट्ट कृत 'नल-दमयन्ती स्वयंवर', शालीग्राम लाल कृत 'अभिमन्यु' आदि उल्लेखनीय हैं।

प्रेमप्रधान रोमानी नाटकों में श्रीनिवास दास कृत 'रणधीर प्रेममोहिनी' और 'तप्तासंवरण', खड्गबहादुरमल्ल कृत 'रतिकुसुमायुध', किशोरीलाल गोस्वामी कृत 'प्रणयिनी परिणय' और 'मयंकमंजरी', शालिग्राम शुक्ल कृत 'लावण्यवती सुदर्शन' तथा गोकुलनाथ शर्मा कृत 'पुष्पवती' के नाम लिये जा सकते हैं।

समसामयिक उपादानों को लेकर लिखे गये नाटकों में बालकृष्ण भट्ट कृत 'नई रोशनी का विष', खड्गबहादुर मल्ल कृत 'भारत आरत', अम्बिकादत्त व्यास कृत 'भारत सौभाग्य', गोपालराम गहमरी कृत 'देश दशा', काशीनाथ खत्री कृत 'विधवा विवाह' और देवकीनन्दन त्रिपाठी कृत 'भारत हरण' उल्लेखनीय हैं।

इन नाटकों में देश की तत्कालीन दुर्दशा का चित्र खींचा गया है और समाज की समस्याओं को प्रत्यक्ष करके उनके मूल में काम करनेवाली बुराइयों को दूर करने की प्रेरणा दी गई है।

भारतेन्दु की तरह कई अन्य नाटककारों ने भी इस युग में प्रहसनों की रचना की। बालकृष्ण भट्ट के 'जैसा काम वैसा परिणाम' और 'आचार विडम्बन', विजयानन्द त्रिपाठी के 'महा अन्धेर नगरी', प्रताप नारायण मिश्र के 'कलि कौतुक रूपक' आदि महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें हास्य-व्यंग्यपूर्ण शैली में धार्मिक पाखण्डों का खण्डन हुआ है सामाजिक कुरीतियों पर प्रहार किया गया है।

वस्तुतः भारतेन्दु युगीन नाटकों का उद्देश्य था मानवीय भावनाओं को जाग्रत करना एवं राष्ट्र-हित में उसका विनियोग करना। नाटकों के जरिए मनोरंजन के साथ साथ भारत की प्राचीन संस्कृति के प्रति प्रेम उत्पन्न करना पौराणिक एवं ऐतिहासिक चरित्रों के प्रति समाज को आकृष्ट करना तथा पश्चिमी अनुकरण से युवा-वर्ग को बचाना तत्कालीन नाटककारों का ध्येय था। भारतेन्दु जहाँ शास्त्रीय दृष्टि से संस्कृत नाट्य शास्त्र की मर्यादा का अनुपालन करते थे, वहाँ पाश्चात्य ट्रेजेडी की पद्धति पर दुःखान्त नाटक की रचना को भी प्रोत्साहित करते थे। लेकिन पारसी थियेट्रिकल कम्पनियों द्वारा व्यावसायिक एवं सस्ता निम्न स्तरीय मनोरंजन धर्मी नाटकों का वे डटकर विरोध करते थे। हीन रुचि के दृश्य तथा अश्लील नाच-गानों से जन-रुचि को आकृष्ट करने की उन कम्पनियों की योजना का विरोध करते हुए भारतेन्दु-युग ने सांस्कृतिक-साहित्यिक एवं उद्देश्य पूर्ण नाटकों के प्रसार करने की जो मुहिम चलायी थी, आगे चलकर वह सफल हुआ और प्रसाद काल में हिन्दी नाटक अपने साहित्यिक-सांस्कृतिक उत्कर्ष तक पहुँचा।

भारतेन्दु युग के बाद महावीर प्रसाद द्विवेदी के नेतृत्व में जो काव्यान्दोलन का दौर चला, उसमें नाट्य-साहित्य का विकास अत्यन्त निराशाजनक रहा। भाषा, विषय, संस्कृति आदि सभी क्षेत्रों में सुधारवादी प्रवृत्ति को ही प्राथमिकता दी जाती थी। विशेष कर, इतिवृत्तात्मकता की प्रधानता के कारण मौलिक उद्भावनाओं केलिए बहुत कम अवकाश रह गया। अतः इस समय नाटकों के अनुवाद की भरमार रही, पर मौलिक नाटक बहुत कम लिखे गये। बद्रीनाथ भट्ट, माखनलाल चतुर्वेदी, लोचनशर्मा पाण्डेय, सुदर्शन, गंगाप्रसाद श्रीवास्तव जैसे कुछ लोग भारतेन्दु की परम्परा को आगे ले जा रहे थे, लेकिन रंगमंच की दृष्टि से कुछ नाटक भले ही सफल हो गये हो, पर साहित्यिक महत्त्व की दृष्टि से स्थिति विशेष उत्साहजनक नहीं रही। नारायण प्रसाद बेताब, हरिकृष्ण जौहर, मोहम्मद मियाँ, शैदा, आगा हश्र कश्मीरी तथा राधेश्याम कथावाचक जैसे नाटककार पारसी रंगमंच के लिए सस्ता मनोरंजन धर्मी नाटक

कुछ हद तक लोकप्रियता प्राप्त की थी। सम्भवतः इन्हीं नाटककारों की वजह से इस दौर में साहित्यिक नाटक सर नहीं उठा पा रहे थे।

नाटकों के क्षेत्र में अनुवाद का जो सिलसिला भारतेन्दु शुरू किया था, वह इस युग में भी जारी रहा। ऐतिहासिक नाटक इस दौर में अधिक लिखे गये। जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी का 'तुलसीदास', वियोगी हरि का 'प्रबुद्ध यामुने', मिश्रबन्धुओं का 'शिवाजी' इस प्रकार के नाटक हैं। प्रेमचन्द के 'कर्बला', माखनलाल चतुर्वेदी के 'कृष्णार्जुन युद्ध', गोविन्द वल्लभ पंत के 'वरमाला' इस काल के कुछ प्रमुख नाटक हैं, पर नाट्य-शिल्प की दृष्टि से गौण। यूँ कहें तो प्रसाद जी के आविर्भाव से पहले नाटकीय शैली एवं शिल्प-विधान में कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं हुआ।

प्रसाद-काल :

हिन्दी नाटकों के विकास का जो प्रारम्भ भारतेन्दु युग में हुआ था, वह प्रसाद-युग में अपने पूर्ण ऐश्वर्य तक पहुँचा। जयशंकर प्रसाद के आविर्भाव हिन्दी नाट्य-साहित्य को एक नई शैली मिली, एक नया दिग्दर्शन मिला। उन्होंने नाट्य सृजन में नूतन प्राण प्रतिष्ठा की और सांस्कृतिक-राष्ट्रीय संचेतनता की भावोच्छ्वासपूर्ण अभिव्यक्ति की। प्रसाद जी ने भारतीय नाट्य तत्त्व और पाश्चात्य नाट्य विधान के अन्तर्द्वन्द्व का सुन्दर समन्वय कर एक अभिनव नाट्य शिल्प का विकास किया। इस समन्वय का ही परिणाम है कि उनके नाटकों में पात्रों का चरित्र और कार्य अधिक भावक भूमियों में विकसित हुआ है और साथ ही मानवीय संवेदना के अनेकानेक रूप प्रकाशित किये गये हैं। प्रत्येक पात्र को प्रसाद ने एक स्वतन्त्र पहचान दी। पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व में पात्रों की वैयक्तिकता प्रकट हुई है। ये पात्र भारतीय नाटकों की चरित्र मूलक रीति-नीति से अलग व्यक्ति-वैचित्र्यमूलक प्रतीत होते हैं। लेकिन भारतीय आदर्शवादी आस्था उनके चरित्रों में व्यक्ति-वैचित्र्य को एक सीमा से आगे जाने नहीं देती। अतः प्रसाद के पात्रों में भारतीय परम्परासिद्ध रूप एवं व्यक्ति वैचित्र्यमूलक रूप का एक स्वस्थ सर्जनात्मक समन्वय संघटित होता है।

प्रसाद जी के आरम्भिक नाटक – 'सज्जन', 'कल्याणी-परिणय', 'प्रायश्चित्त', 'करुणालय', 'राज्यश्री' – नाट्य-कला की दृष्टि से विशेष परिपक्व नहीं थे। पारसी रंगमंच की सस्ती लोकप्रियता के आगे उन्हें कोई साहित्यिक मार्ग नहीं मिल रहा था, जिसकी उन्हें तलाश थी। आखिर वह उन्हें तभी मिला जब उन्होंने एक साहित्यिक-सांस्कृतिक रंगमंच की कल्पना की और फिर नाट्य-रचना की। ऐसे नाटकों में 'विशाख', 'अजातशत्रु', 'जनमेजय का नागयज्ञ', 'कामना', 'स्कन्दगुप्त', 'एक घूँट', 'चन्द्रगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी'।

चूँकि प्रसाद जी अपने काल्पनिक रंगमंच को व्यावहारिक रूप नहीं दे सके, उनके नाटक सभी दृष्टियों से उत्कृष्ट होने पर भी अभिनय की दृष्टि से अधिक सफल नहीं हो सके।

कुल तेरह नाटकों में से प्रसाद जी ने दस ऐतिहासिक नाटकों की रचना की थी। इसका कारण यह नहीं है कि वे भारतीय इतिहास और ऐतिह्य के ज्ञाता थे, बल्कि इतिहास को वे वर्त्तमान के कल्याण के लिए उपयोग करना चाह रहे थे। परतन्त्र देश का लेखक यदि वर्तमान की क्षतिपूर्ति अपने गौरवमय अतीत से करना चाहता है तो इसमें कोई हानि नहीं, बल्कि फायदा है। अधिकांशतः प्रसाद जी ने गुप्त युग में केन्द्र में करके कई ऐतिहासिक नाटकों का निर्माण किया। इसलिए कि वे गुप्त युग की भाँति अपने समय में 'स्वर्णयुग' का सपना देखते थे। एक आर्यावर्त्त की परिकल्पना को आजादी के लिए उपयोग करना, विदेशी सत्ता से देश को मुक्ति दिलाना एवं नारी जागरण आदि कई ऐसे तत्वों को वर्तमान के परिप्रेक्ष्य में सजीव बनाकर उसकी प्रासंगिकता के प्रति संकेत करना प्रसाद जी जैसे दूरदृष्टि सम्पन्न प्रतिभावान नाटककार के लिए ही सम्भव है। शायद ही हिन्दी के किसी अन्य लेखक ने भारतीय संस्कृति, समृद्धि, शक्ति और औदात्य का ऐसा भास्वर चित्र प्रस्तुत किया हो। इन नाटकों में जो चरित्र उभर कर आये, वे शील, शक्ति एवं औदात्य के प्राणवन्त विग्रह हैं।

प्रसाद के नाट्य-शिल्प पर कई प्रकार के प्रभाव परिलक्षित होते हैं। एक ओर संस्कृत की गौरवमयी परम्परा ने उन्हें प्रभावित किया है तो दूसरी तरह प्रसिद्ध अंग्रेजी नाटककार शेक्सपियर से भी वे प्रभावित हुए। समकालीन बंगला नाटककार द्विजेन्द्रलाल राय आदि ने भी प्रसाद जी को आकृष्ट किया। साथ ही पारसी नाटक-कम्पनियों से उन्हें परहेज होते हुए भी अप्रत्यक्ष रूप से कुछ शैलीगत प्रभाव इनकी नाटकों में पाया जाता है। आगे चलकर इब्सन और शॉ के समस्या नाटकों ने इन्हें प्रभावित किया। इस प्रकार उपलब्ध तमाम नाट्य सामग्री को अनुभव लेकर प्रसाद जी ने अपने नाट्य-निर्माण कौशल को परिपुष्ट किया।

कलात्मक उत्कर्ष की दृष्टि से प्रसाद के प्रमुख नाटक तीन हैं - स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी। 'स्कन्दगुप्त' में समृद्धि और ऐश्वर्य के शिखर पर आसीन गुप्त-साम्राज्य की उस स्थिति का चित्रण हुआ है, जहाँ आन्तरिक कलह, पारिवारिक संघर्ष और विदेशी आक्रमणों के फलस्वरूप उसके भावी क्षय के लक्षण प्रकट होने लगे थे। विषय और रचना-शिल्प दोनों ही दृष्टियों से यह प्रसाद का सर्वश्रेष्ठ नाटक माना जाता है। भारतीय एवं पाश्चात्य नाटक-पद्धतियों का इतना सुन्दर समन्वय उनके अन्य किसी नाटक में नहीं मिलता। स्कन्दगुप्त और देवसेना के चरित्र पाठकों पर अमिट छाप छोड़ जाते हैं। 'चन्द्रगुप्त' की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें विदेशियों से भारत के संघर्ष और उस संघर्ष में भारत की विजय

की थीम उठायी गयी है। चन्द्रगुप्त, चाणक्य, मालविका, कार्नेलिया आदि के रूप में उन्होंने अनेक प्रभावशाली चरित्र हमें दिये हैं। प्रसाद का अन्तिम नाटक 'ध्रुवस्वामिनी' का उनके तमाम नाटकों में एक विशिष्ट स्थान है। ऐतिहासिक नाटक होने पर भी इसका विशेष महत्व 'समस्या-नाटक' के रूप में है। इसमें तलाक और पुनर्विवाह की समस्या को बड़े कौशल से उठाया गया है। यूरोपीय समस्या नाटकों से प्रभावित प्रसाद जी ने भारतीय समस्याओं के संदर्भ में इसका बड़ा ही रोचक एवं प्रभावी प्रदर्शन किया है।

प्रसाद की नाट्य-शैली से प्रेरणा ग्रहण करते हुए अथवा उसके विरोध में हिन्दी नाटक का बहुमुखी विकास हुआ। उनके समकालीन नाटककारों में हरिकृष्ण प्रेमी, वृन्दावनलाल वर्मा, रामकुमार वर्मा, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, गोविन्दवल्लभ पंत, सेठ गोविन्द दास, उदयशंकर भट्ट, जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द, लक्ष्मीनारायण मिश्र, चतुरसेन शास्त्री, पाण्डेय लोचन प्रसाद शर्मा, सीताराम चतुर्वेदी, इन्द्रदेव वेदालंकार जोशी, रामवृक्ष बेनीपुरी आदि बहुत-से नाटककार सामाजिक समस्याओं पर आधारित सामाजिक कथानक प्रधान यथार्थवादी ढर्रे के नाटक लिखने की ओर अग्रसर हुए।

प्रसादोत्तर नाटक (समस्या नाटक):

प्रसादोत्तर काल की एक प्रवृत्ति प्रसाद के नाट्यादर्श का अनुगमन करने की थी। प्रसाद की परम्परा में ऐतिहासिक नाटकों, पौराणिक नाटकों, गीति-नाट्य एवं प्रतीक नाटक के सृजन का अनवरत प्रवाह बना रहा। ऐतिहासिक नाटकों में उदयशंकर भट्ट के 'विक्रमादित्य', 'दाहर या सिंध पतन', 'मुक्तिपथ', 'शक विजय'; हरिकृष्ण प्रेमी के नाटक 'शिव साधना', 'प्रतिशोध', 'स्वप्नभंग', 'आहुति', 'उद्धार', 'प्रकाश स्तम्भ', 'कीर्तिस्तम्भ', 'साँपों की सृष्टि', 'रक्तदान'; चन्द्रगुप्त विद्यालंकार के 'अशोक'; सेठ गोविन्द दास के 'हर्ष', 'शशिगुप्त'; लक्ष्मीनारायण मिश्र के 'अशोक', 'गरुड़ध्वज', 'वत्सराज', 'दशाश्वमेध', 'वितस्ता की लहरें'; वृन्दावनलाल वर्मा के 'झाँसी की रानी', 'पूर्व की ओर', 'काश्मीर का काँटा'; जगदीशचन्द्र माथुर के 'कोणार्क', 'शारदीया', 'पहला राजा' आदि प्रसाद की काव्यधर्मी रोमैंटिक नाट्य-शैली से प्रभावित प्रमुख नाटक हैं।

प्रसादोत्तर काल के नाटककारों में हरिकृष्ण प्रेमी और लक्ष्मी-नारायण मिश्र के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। प्रेमी जी ने इस काल में 'स्वर्ण विहान', 'रक्षाबन्धन', 'पाताल विजय', 'प्रतिशोध', 'शिवा साधना' आदि नाटक लिखे। इनमें 'स्वर्ण विहान' गीति नाटक है, शेष गद्य नाटक। इनके नाटक प्रसाद जी की तरह ऐतिहासिक हैं, यद्यपि

दोनों के लक्ष्य और कालखण्ड के चुनाव में अन्तर है। प्रेमी जी ने भारतीय इतिहास के मुस्लिम-काल को अपने नाटकों का आधार बनाया और हिन्दू-मुस्लिम-एकता के प्रतिपादन पर उनका विशेष बल रहा।

हरिकृष्ण प्रेमी के ही समसामयिक नाटककारों में लक्ष्मी-नारायण मिश्र ने इस अवधि में 'अशोक', 'सन्यासी', 'मुक्ति का रहस्य', 'राक्षस का मन्दिर', 'राजयोग', 'सिन्दूर की होली', 'आधी रात' आदि नाटकों की रचना की। प्रसाद से सर्वथा भिन्न मार्ग पर चलकर उन्होंने हिन्दी नाटक-साहित्य को नया मोड़ दिया। 'सन्यासी' की भूमिका में उन्होंने लिखा - " इतिहास के गड़े मुर्दे उखाड़ने का काम इस युग के साहित्य में वांछनीय नहीं।" वाकई यह प्रसाद-साहित्य के प्रति प्रतिक्रिया थी। जब प्रतिक्रिया का यह दौर समाप्त हुआ, तब मिश्र जी ने इतिहास आधारित नाटक लिखे। उनका पहला ऐतिहासिक नाटक 'अशोक' द्विजेन्द्रलाल राय और प्रसाद के नाटकों की परम्परा में लिखा गया था, किन्तु परवर्ती नाटकों में उनकी शैली सर्वथा भिन्न रही। वस्तुतः 'सन्यासी' नाटक के साथ हिन्दी नाटक के विषय और शिल्प दोनों में बदलाव आया। 'सन्यासी' में राष्ट्र और अपनी संस्कृति के गौरवबोध की प्रेरणा प्रमुख रही है। इसमें विदेशी शासकों की धोखाधड़ी, गाँधीजी के असहयोग, रौलट ऐक्ट, पंजाब हत्याकाण्ड आदि से उत्पन्न स्थितियों का चित्रण है। वैसे 'सन्यासी' से 'आधी रात' तक अपने सभी नाटकों में उन्होंने सामाजिक समस्याओं को - विशेषकर नारी-समस्याओं को आधार बनाया। स्त्री शिक्षा के प्रचार, नारी-स्वातन्त्र्य-आन्दोलन तथा नवीन जीवन-दर्शन के फलस्वरूप आधुनिक नारी का ऐसा रूप सामने आया जिससे हमारा समाज अब तक अपरिचित था। प्रेम और विवाह, प्रणय और दाम्पत्य, काम और नैतिकता विषयक अनेक समस्याएँ समाज के समक्ष सहसा उपस्थित हो गईं। मिश्र जी ने इन समस्याओं को उठाते समय सामाजिक वैषम्य की पृष्ठभूमि में नारी और पुरुष के सम्बन्धों का चित्रण किया। तमाम समस्याओं के समाधान में उन्होंने बुद्धिवादी दृष्टिकोण अपनाया। 'मुक्ति का रहस्य' में पश्चिम के उन्मुक्त प्रेम पर भारतीय दाम्पत्य-विधान की विजय और 'सिन्दूर की होली' में विधवा-विवाह और नारी उद्धार के प्रति मनोरमा के दृष्टिकोण से इस कथन की पुष्टि होती है।

नाट्य-शास्त्र की दिशा में भी मिश्र जी ने अनेक मौलिक एवं क्रान्तिकारी परिवर्तन किये हैं। उनके सभी नाटक तीन अंकों में हैं और अंकों का विभाजन दृश्यों में नहीं किया गया है। नाटकीय अन्वितियों के निर्वाह में वे प्रसाद जी से अधिक सतर्क हैं। पाश्चात्य

प्रभाव को मिश्र जी कितना ही अस्वीकार क्यों न करें, लेकिन विषय-प्रतिपादन पर न भी हो तो शिल्प-विधान में इब्सन और शॉ का प्रभाव अवश्य पड़ा है। यद्यपि मिश्र जी ने भारतीय समस्याओं के सन्दर्भ में उस प्रभाव का सृजनशील उपयोग किया है।

उपर्युक्त नाटककारों के अलावा आलोच्य काल में अन्य अनेक नाटककार हुए हैं, जो गुणात्मक दृष्टि से समृद्ध न होने पर भी परिमाण की दृष्टि से पर्याप्त रचनाएँ की हैं जिनमें अधिकतर पौराणिक एवं ऐतिहासिक विषय ही रहे हैं। ऐसे नाटककारों में अम्बिकादत्त त्रिपाठी, रामचरित उपाध्याय, रामनरेश त्रिपाठी, गंगाप्रसाद अरोड़ा, गौरीशंकर प्रसाद, परिपूर्णानन्द वर्मा आदि के नाम लिये जा सकते हैं। शुद्ध सामाजिक विषय-वस्तु को लेकर नाटक रचनेवालों में विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', ईश्वरी प्रसाद शर्मा, सुदर्शन, गोविन्दवल्लभ पंत, बैजनाथ चावलवाला, केदारनाथ बजाज, बल्देव प्रसाद मिश्र, रघुनाथ चौधरी, बेचन शर्मा 'उग्र' आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

इस समय सुमित्रानन्दन पंत के 'ज्योत्स्ना'; मैथिलीशरण गुप्त के 'अनघ'; हरिकृष्ण प्रेमी के 'स्वर्णविहान', भगवतीचरण वर्मा के 'तारा'; उदयशंकर भट्ट के 'मत्स्यगन्धा', 'विश्वामित्र' जैसे गीति-नाटक भी रचे गये। इसी अवधि में गंगाप्रसाद श्रीवास्तव (जी.पी. श्रीवास्तव) के बहुत सारे हास्य-व्यंग्य प्रधान नाटक प्रकाश में आये, जिनमें 'दुमदार आदमी', 'गड़बड़झाला', 'नाक में दम' उर्फ 'जवानी बनाम बुढ़ापा' उर्फ 'मियाँ की जूती मियाँ के सर', 'भूलचूक', 'चोर के घर छिछोर', 'चाल बेढब', 'साहित्य का सपूत', 'स्वामी चौखटानन्द' आदि बहुचर्चित हैं। इनके अतिरिक्त कतिपय अन्य नाटककार भी हुए जो केवल पारसी रंगमंच हेतु सस्ता मनोरंजन धर्मी नाट्य-रचना करते थे।

हिन्दी में रूमानियत से मुक्त होकर आधुनिक भावबोध से जुड़कर लिखनेवाले पहले नाटककार हैं उपेन्द्रनाथ अश्क। उनके नाटकों में 'जय-पराजय' यद्यपि प्रसाद-प्रभाव से मुक्त नहीं है फिर भी 'छठा बेटा' उस प्रभाव से मुक्त है। इसमें अश्कजी ने पिता-पुत्र के परिवर्तित सम्बन्धों का व्यंग्यात्मक चित्र प्रस्तुत किया है। 'कैद', 'उड़ान', 'अलग-अलग रास्ते', 'भँवर', 'अंजो दीदी', 'अंधी गली', 'पैंतरे' जैसे नाटक अश्कजी के बहुआयामी नाट्य-प्रतिभा को उजागर करते हैं। इनमें 'अंजो दीदी' सबसे अधिक लोकप्रिय एवं चर्चित नाटक है। मंच के प्रति अत्यधिक सतर्कता, गहन मानवीय स्थितियों को रूपायित करने में भाषा की असमर्थता,

और साथ ही कथा-तत्व की प्रमुखता अश्क जी को गहराई में पैठने नहीं देते।

विष्णु प्रभाकर के दो नाटक 'समाधि' और 'डाक्टर' में से 'डाक्टर' एक मनोवैज्ञानिक सामाजिक नाटक है, जो अपनी लोकप्रियता के कारण काफी चर्चित है। मंचीय सफलता और नई जीवनानुभूतियों की नाटकीय रचनात्मकता जगदीशचन्द्र माथुर के 'कोणार्क' में लक्षित होती है। विभिन्न प्रकार के पात्रों, घटनाओं आदि को इसमें इसप्रकार संयोजित किया गया है कि वे विशिष्ट नाटकीय स्थितियों में संश्लिष्ट हो उठते हैं। कोणार्क का निर्माण एक गहरे अन्तर्द्वन्द्व का परिणाम है, मनोविज्ञान की शब्दावली में यह एक प्रकार का उदात्तीकरण है। जगदीश जी के अन्य नाटकों में 'शारदीया', 'पहला राजा' एवं 'दशरथनन्दन' हैं, जो ऐतिहासिक-पौराणिक आधार-भूमि पर निर्मित होते हुए भी वर्तमान के संदर्भ में इस कदर जुड़े हुए हैं कि चरित्र हमारे ही आसपास के लगते हैं।

महाभारत के अठारहवें दिन की सन्ध्या से प्रभास-तीर्थ में कृष्ण के देहावसान के क्षणों तक की कथा को लेकर रचा गया 'अन्धायुग' धर्मवीर भारती का एक बहुआयामी तथा बहुचर्चित नाटक है। इस नाटक की कथावस्तु का उद्देश्य है युद्धकालीन वर्तमानकालीनता को प्रासंगिकता देना। बल्कि जब-जब युद्ध होगा ऐसी ही अवसादपूर्ण त्रासद स्थितियाँ उत्पन्न होंगी और विघटित मूल्यों के सन्दर्भ में मनुष्य को नये मूल्यों की तलाश करनी होगी। युद्ध के बाद पहले के सारे अर्थ बदल जाते हैं, आस्था अनास्था में बदलती है तथा मूल्य निर्मूल्यता में खो जाते हैं; इसलिए 'अन्धायुग' में बहिर्द्वन्द्व के समाप्त होने पर अन्तर्द्वन्द्व की विकराल ज्वाला जगकर सभी को भस्मीभूत कर लेने के लिए उतावली हो जाती है। यह एक सशक्त आधुनिक त्रासदी है। अश्वत्थामा के यथार्थपूर्ण आक्रोश, युयुत्सु की यातना, गान्धारी के आवेश, धृतराष्ट्र की आत्मभर्त्सना और संजय की अभिशप्त चीख से घिरकर 'अन्धायुग' युद्धजन्य स्थितियों को पूर्णतः नाटकीय बना देता है।

डा० लक्ष्मीनारायण लाल इस समय के एक सशक्त नाटककार हैं। इनकी नाट्य-कृतियों में 'अन्धाकुआँ', 'मादा कैक्टस', 'तीन आँखोंवाली मछली' 'सुन्दर रस, सूखा सरोवर', 'रक्तकमल', 'रातरानी', 'दर्पण', 'सूर्यमुख', 'कलंकी', 'मिस्टर अभिमन्यु', 'करफ्यू' आदि आते हैं। भिन्न भिन्न प्रतीकों के जरिए नाटककार समकालीन युग-जीवन का ही चित्रण करता है। कहीं कर्म-सौन्दर्य से कर्म-सौन्दर्य को उत्कृष्ट माना गया है तो कहीं समष्टि के सामने व्यष्टि को समर्पित होना दिखाया गया है। कहीं आधुनिक युग की विसंगति और मूल्यहीनता पर चोट की गई है तो कहीं व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को उभारा गया है। 'सूर्यमुख' पर 'अन्धायुग' का प्रभाव है। 'मिस्टर अभिमन्यु' और 'करफ्यू' आधुनिक जीवन की संवेदना को लेकर लिखे गये और मंचन में खरे उतरे हैं।

'आषाढ़ का एक दिन', 'लहरों के राजहंस' एवं 'आधे अधूरे' नामक तीन नाटकों को लेकर हिन्दी नाट्य परम्परा अपना विशिष्ट स्थान कायम कर गये मोहन राकेश। 'आषाढ़ का एक दिन' महाकवि कालिदास के परिवेश, रचना-प्रक्रिया, प्रेरणा-स्रोत और उनके चुक जाने से सम्बद्ध है। यह दो प्रकार के संघर्षों पर आधारित है + परिवेशमूलक संघर्ष और आन्तरिक संघर्ष। आषाढ़ के एक दिन इस संघर्ष का आरम्भ हुआ और आषाढ़ के एक ही दिन वह समाप्त हुआ। 'लहरों के राजहंस' में राकेश ने राग-विराग और श्रेय-प्रेय के द्वन्द्व को उभारकर चिरन्तन आध्यात्मिक प्रश्न को नये संदर्भ में उठाया है। इसकी कथावस्तु अश्वघोष के 'सौन्दरनन्द' पर आधारित है। 'आधे-अधूरे' राकेश का तीसरा नाटक है, जो उनकी विकास-यात्रा की अगली मंजिल का सूचक है। इसमें इतिहास के आधार को छोड़कर समाज की विसंगतियों से सीधे जूझने का प्रयास है।

साम्प्रतिक काल के अन्य नाटककारों में सेठ गोविन्द दास, हरिकृष्ण प्रेमी, गोविन्दवल्लभ पंत, उदयशंकर भट्ट, जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द, आदि कतिपय पुराने खेवे के नाटककारों का उल्लेख अपेक्षित है। ऐतिहासिक-पौराणिक कथावस्तु के जरिए आधुनिक जीवन की विविध समस्याओं पर प्रकाश डालना इनका उद्देश्य रहा है। इनके अतिरिक्त चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, विनोद रस्तोगी, नरेश मेहता, मन्नू भण्डारी, शिवप्रसाद सिंह, धानदेव अग्निहोत्री, विपिन कुमार, गिरिराज किशोर, सुरेन्द्र वर्मा, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना आदि के नाम भी लिये जा सकते हैं।

यद्यपि हिन्दी साहित्य की अन्य विधाओं की तुलना में नाट्य-रचना का विकास उतना उत्साहजनक नहीं रहा, फिर भी सामाजिक अत्याचार, मूल्यहीनता, संघर्ष एवं द्वन्द्वात्मक जन-जीवन को प्रकाश में लाने तथा पीड़ित व अवहेलितों के प्रति संवेदना जगाने में नाटक की भूमिका महत्वपूर्ण रही है, इसमें सन्देह नहीं।

उपन्यास

मौलिक हिन्दी उपन्यास रचना से पहले हिन्दी में अनुदित उपन्यासों की बाढ़-सी आ गई। बंगला और अंग्रेजी से ढेरसारे अनुवाद हुए। इसी बीच सन् 1877 में श्रद्धाराम फिल्लौरी कृत 'भाग्यवती' और आगे सन् 1882 में लाला श्रीनिवास दास कृत 'परीक्षागुरु' नामक दोनों उपन्यासों ने शास्त्र मनोरंजन धर्मी जासूसी, तिलिस्मी एवं ऐय्यारी उपन्यासों के बीच शैल्पिक दृष्टि से खरे उतरनेवाले सामाजिक हिन्दी उपन्यासों के रूप में सामने आये। 'भाग्यवती' का प्रकाशन दस साल बाद सन् 1887 में हुआ एवं उस पर शेक्सपियर के 'टेम्पेस्ट' की छाया होने के कारण उसे हिन्दी का प्रथम उपन्यास होनेका गौरव नहीं मिला। रामचन्द्र शुक्ल ने 'परीक्षागुरु' को ही 'अंग्रेजी ढंग का पहला उपन्यास' कहकर सही अर्थों में उपन्यास होने की मुहर लगा दी। इस युग के अन्य उपन्यासकारों की कृतियों में बालकृष्ण भट्ट के 'रहस्यकथा', 'नूतन ब्रह्मचारी' और 'सौ अजान एक सुजान'; राधाकृष्ण दास के 'निःसहाय हिन्दू'; लज्जाराम शर्मा के 'धूर्त रसिकलाल', 'स्वतन्त्र रमा परतन्त्र लक्ष्मी'; किशोरीलाल गोस्वामी के 'त्रिवेणी वा सौभाग्यश्रेणी' आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन सभी उपन्यासों का उद्देश्य समाज की कुरीतियों को सामने लाकर उनका विरोध करना और आदर्श परिवार एवं समाज की रचना का सन्देश देना है।

तिलिस्मी, तिलिस्मी एवं ऐयारी उपन्यासों में देवकीनन्दन खत्री के 'चन्द्रकान्ता', 'चन्द्रकान्ता सन्तति', 'नरेन्द्रमोहिनी', 'वीरेन्द्रवीर', 'कुसुम कुमारी'; हरेकृष्ण जौहर के 'कुसुमलता' आदि उल्लेखयोग्य हैं। तिलिस्मी-ऐयारी उपन्यास आम जनता में खूब लोकप्रिय हुए थे। इनमें रहस्य-रोमांच प्रिय सस्ती कल्पना को पुष्टि मिलती थी। जासूसी उपन्यासों में गोपालराम गहमरी के 'अद्भुत लाश', 'गुप्तचर' आदि के नाम लिये जा सकते हैं। गहमरी जी ने लगभग दो सौ जासूसी उपन्यासों की रचना की थी। रोमानी उपन्यासों में ठाकुर जगमोहन सिंह का 'श्यामास्वप्न' उल्लेखनीय है। तिलिस्मी-ऐयारी उपन्यासों में 'चन्द्रकान्ता' के नौ खण्ड और 'चन्द्रकान्ता सन्तति' के छः भाग लिखचुकने के बाद भी बढ़ती लोकप्रियताको देखकर खत्री जी ने 'काजर की कोठरी', 'अनूठी बेगम', 'गुप्त गोदना' के साथ 'भूतनाथ' के छः भाग लिखे, जिसे आगे

उनके सुपुत्र दुर्गाप्रसाद खत्री ने शेष तीन भाग लिखकर पूरा किया।

ऐतिहासिक उपन्यास-लेखन में प्रायः मुसलिम युग के इतिहास से सामग्री ली गई, जो पाठकों के कुतूहल एवं रहस्य-रोमांच वृत्ति को पुष्ट कर सके। किशोरीलाल गोस्वामी, गंगाप्रसाद गुप्त, जयरामदास गुप्त और मथुराप्रसाद शर्मा इस काल के उल्लेखनीय ऐतिहासिक उपन्यासकार हैं। इनमें सबसे सशक्त एवं लोकप्रिय उपन्यासकार थे किशोरीलाल गोस्वामी, जो सामाजिक उपन्यास लिखने में भी सिद्धहस्त थे। अन्य सामाजिक उपन्यासकारों में अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', ब्रजनन्दन सहाय, राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह और मन्नन द्विवेदी के नाम लिये जा सकते हैं। लज्जाराम शर्मा के 'आदर्श दम्पति', बिगड़े का सुधार अथवा सती सुखदेवी', 'आदर्श हिन्दू' जैसे उपन्यास अपना एक स्वातन्त्र्य है। अयोध्यासिंह उपाध्याय के 'अधखिला फूल', 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' जैसे उपन्यासों में सामाजिक संस्कार की बात की गई है। ब्रजनन्दन सहाय के 'सौन्दर्योपासक', 'राधाकृष्ण' नाम के दो भावप्रधान उपन्यास काफी चर्चित हुए। सुबनेश्वर प्रसाद मिश्र के 'घराऊ घरना' एवं 'बलवन्त भूमिहार' नामक उपन्यास इस जीवन की अभिव्यक्ति के साधन के रूप में प्रतिष्ठित हुए।

सन् 1918 से 1936 तक का समय भारतीय स्वाधीनता संघर्ष और समाज सुधार सम्बन्धी आन्दोलनों की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अंग्रेजी शासन, शिक्षा एवं सभ्यता के प्रभाव से तथा हिन्दू समाज में व्याप्त कुरीतियों, अन्धविश्वासों, मत-मतान्तरों एवं धार्मिक आडम्बरों के प्रति बौद्धिक विद्रोह से हमारे भीतर अपने धर्म, शिक्षा, संस्कृति एवं आचार-विचार विषयक जो हीनता आ गई थी उसके उन्मूलन के लिए चले आ रहे प्रयासों के फलस्वरूप हिन्दू समाज में एक नवीन चेतना और गौरव की भावना का उदय हो रहा था।

ऐसे में 'उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र मात्र समझनेवाले' मुंशी प्रेमचन्द का पदार्पण हिन्दी उपन्यास के लिए वरदान साबित हुआ। यूँ तो बीसवीं सदी की शुरुआती दौर में ही आपने उर्दू उपन्यासों के साथ साथ उनके हिन्दी रूपान्तर प्रस्तुत करना शुरू कर दिया था। मनोरंजन, चमत्कार एवं वासनाप्रधान कथावस्तु के दलदल से हिन्दी उपन्यास को निकाल कर तत्कालीन सामाजिक उपयोगिता के अनुसार रूप प्रदान किया। हालाँकि अद्धा राम फिल्लौरी, श्रीनिवास दास, ब्रजनन्दन सहाय, बालकृष्ण भट्ट आदि कतिपय उपन्यासकार सामाजिक समस्याओं को लेकर कलम चला रहे थे। लेकिन पहली बार उपन्यास को आम आदमी के जीवन से जोड़ने का श्रेय प्रेमचन्द को है। अपने प्रथम उर्दू उपन्यास 'हम खुर्मा व हम सवाब' का हिन्दी रूपान्तर कर उन्होंने

सन् 1907 में प्रकाशित करवाया। पहले उसका नाम 'प्रेमा' था, फिर आगे संशोधित संस्करण में 'प्रतिज्ञा' हुआ। इस प्रकार 'देवस्थान रहस्य', 'रुठीरानी' आदि अपने कई उपन्यासों का अपने हिन्दी अनुवाद किया।

लेकिन प्रेमचन्द को हिन्दी उपन्यास की परम्परा में अपने पैर जमाने का बहुत बड़ा मौका उनका लोकप्रिय उपन्यास 'सेवासदन' के प्रकाशन के साथ सन् 1918 में। 'जलवए ईसार' अपने उर्दू उपन्यास का हिन्दी रूपान्तर 'वरदान' के नाम से इसी समय प्रकाशित हुआ। फिर प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कायाकल्प, निर्मला, गबन, कर्मभूमि, गोदान और मंगलसूत्र (अधूरा) जैसे उपन्यासों की रचना की

हिन्दी उपन्यास को प्रेमचन्द का अवदान बहुमुखी है। चारों ओर फैले हुए जीवन और अनेक सामयिक समस्याओं – पराधीनता, जमींदारों - पूँजीपतियों और सरकारी कर्मचारियों द्वारा किसानों का शोषण; निर्धनता, अशिक्षा, अन्धविश्वास, दहेज की कुप्रथा, घर और समाज में नारी की स्थिति, वेश्याओं की जिन्दगी, वृद्ध विवाह, विधवा-समस्या, साम्प्रदायिक वैमनस्य, अस्पृश्यता, मध्यम वर्ग की कुण्ठाएँ आदि – ने उन्हें उपन्यास-लेखन के लिए प्रेरित किया था। प्रेमचन्द ने एक-एक कर इन समस्याओं और जीवन के विभिन्न पहलुओं को अपने उपन्यासों में स्थान दिया। 'सेवासदन' में उनका ध्यान मुख्यत: विवाह से जुड़ी समस्याओं – दहेज-प्रथा, बाल विवाह, वृद्ध विवाह, अनमेल विवाह, विवाह के बाद घर में पत्नी का स्थान आदि और समाज में वेश्याओं की स्थिति पर रहा। 'निर्मला' में दहेज-प्रथा और वृद्ध-विवाह से होनेवाले पारिवारिक विघटन तथा विनाश का चित्रण है। कृषक-जीवन की समस्याओं के चित्रण का प्रथम प्रयास 'प्रेमाश्रम' में लक्षित हुआ और उसे पूर्णता मिली 'गोदान' में। वैसे प्रेमचन्द ने मान्य रूप से अपने प्राय: सभी उपन्यासों में और विशेष रूप से 'रंगभूमि' और 'कर्मभूमि' में ग्रामीणों की स्थिति का चित्रण किया है; पर 'गोदान' को तो ग्रामीण जीवन और कृषि-संस्कृति का महाकाव्य ही कहा जा सकता है। ग्रामीण जीवन का इतना सच्चा, व्यापक और प्रभावशाली चित्रण हिन्दी के किसी अन्य उपन्यास में नहीं हुआ है।

प्रेमचन्द पर महात्मागाँधी का प्रभाव तो था ही, पर मानवतावादी दृष्टि के कारण भी देश की साम्प्रदायिक समस्या उन्हें आन्दोलित करती थी। 'सेवासदन' और 'कायाकल्प' में उन्होंने विशेष रूप से इस समस्या को उठाया है। 'सेवासदन', 'रंगभूमि', 'प्रतिज्ञा', 'कर्मभूमि' और 'गोदान' में अन्तर्जातीय विवाह के प्रश्न को उठाया गया है। उच्चवर्गीय और मध्यमवर्गीय समाज में नारी की स्थिति तथा अपने अधिकारों के प्रति उसकी क्रमश: उभरती गई

जागरूकता तो प्रायः उनके सभी उपन्यासों में चित्रित है। विधवा-समस्या का प्रश्न 'प्रतिज्ञा' में उठाया गया है। मध्यम वर्ग की कुण्ठाओं का सबसे अच्छा चित्रण 'गबन' और 'निर्मला' में है, यद्यपि 'सेवासदन' और 'कर्मभूमि' में इसकी झलक देखी जा सकती है। समाज में हरिजनों की स्थिति और उनकी समस्याओं का चित्रण 'कर्मभूमि' में मिलता है। बड़े पैमाने पर फैलनेवाले उद्योग-धंधों के फलस्वरूप ग्रामीण जीवन और पुराने मूल्यों में विघटन तथा पूँजीवाद के बढ़ते हुए प्रभाव का चित्रण 'रंगभूमि' में देखा जा सकता है। देश की पराधीनता के अहसास से पैदा हुआ दर्द 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', 'कायाकल्प', 'गबन' और 'कर्मभूमि' में स्थान स्थान पर व्यक्त हुआ है। सामान्य जीवन की धड़कन तो उनके सभी उपन्यासों में मिलती है। कथा-कहानियों की परम्परा में प्रेमचन्द की सबसे बड़ी विशेषता है कि उन्होंने सहज-सामान्य मानवीय व्यापारों को मनोवैज्ञानिक स्थितियों से जोड़कर उनमें एक सहज तीव्र मानवीय रुचि पैदा कर दी। अपने औपन्यासिक विकास की प्रक्रिया में प्रेमचन्द क्रमशः समस्याओं और उनके आदर्शवादी समाधानों का महत्त्व कम करते हुए जीवनधारा की ताजगी और यथार्थता क्रमशः प्रमुख तथा व्यापक करते गये। उनकी विशेषता यह है कि सामान्य जिन्दगी के ब्यौरे मनोवैज्ञानिक स्थितियों से उन्होंने संकलित किया, जिनकी पृष्ठभूमि में जीवन का गहरा और व्यापक अनुभव तथा तीव्र संवेदना विद्यमान रहते हैं।

प्रेमचन्द से प्रभावित होकर विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', शिवपूजन सहाय, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, चण्डीप्रसाद हृदयेश, राजा राधिकारमण सिंह, सियाराम शरण गुप्त आदि ने सामाजिक-राजनीतिक यथार्थ वाले उपन्यासों की रचना की। इन लेखकों के उपन्यासों में मध्यवर्गीय जीवन, गाँधीवादी जीवन-दर्शन, सुधारवादी प्रवृत्ति, सद्वृत्तियों की संपुष्टि, सच्चरित्रता, शोषण-अन्याय के खिलाफ संघर्ष आदि की प्रधानता है।

प्रेमचन्द युग में ही जयशंकर प्रसाद ने कंकाल, तितली और इरावती (अधूरा) उपन्यासों की रचना कर हिन्दी उपन्यास परम्परा में अपनी जगह बना ली। उन्होंने 'कंकाल' में सामाजिक-यथार्थ का चित्रण करके यह प्रमाणित कर दिया कि वे अतीत में ही रमे रहनेवाले रचनाकार नहीं हैं, बल्कि उन्हें अपने समय के सामाजिक यथार्थ की भी गहरी जानकारी है। इसी समय निराला ने 'अप्सरा', 'प्रभावती', 'निरुपमा', 'चोटी की पकड़', 'बिल्लेसुर बकरिहा', 'कुल्लीभाट' जैसे उपन्यासों से प्रेमचन्दयुगीन सामाजिक-चेतना को एक नया आयाम दिया। 'कुल्लीभाट' और

'बिल्लेसुर बकरिहा' में निराला ने अपने यथार्थवादी दृष्टिकोण के साथ ही संस्मरणात्मक उपन्यास की एक नई शैली का विकास किया, किन्तु यह शैली उन्हीं के उपन्यास तक ही सीमित होकर रह गई। भगवतीचरण वर्मा, जैनेन्द्र, चतुरसेन शास्त्री, वृन्दावनलाल वर्मा, इलाचन्द्र जोशी, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' आदि ने प्रेमचन्द युग में ही लिखना आरम्भ किया। उनकी प्रवृत्ति, दृष्टि और शैली उस युग से भिन्नता लिए हुए है और उनकी कला का निखार भी प्रेमचन्दोत्तर युग में ही दिखाई पड़ा।

प्रेमचन्दोत्तर काल में मानवतावादी के साथ साथ सामाजिक यथार्थ का चित्रण और मनुष्य के चारों ओर विकास और हित पर बल दिया गया है। इस परम्परा को समृद्ध करनेवाले उपन्यासकारों में विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', सियाराम शरण गुप्त, अमृतलाल नागर, विष्णु प्रभाकर, उदयशंकर भट्ट आदि के नाम लिये जा सकते हैं। इन पर प्रेमचन्द युगीन गाँधीवाद का प्रभाव भी रहा है। वे आध्यात्मिक स्तर पर गान्धीवाद, हृदय परिवर्तन और आत्मपीड़न के सिद्धान्त को मान्यता देते हैं। स्वच्छन्दतावादी उपन्यासों की रचना में वृन्दावनलाल वर्मा (गढ़कुंडार, विराट की पद्मिनी), जयशंकर प्रसाद (तितली), निराला (अप्सरा, अलका, प्रभावती), भगवतीचरण वर्मा (तीन वर्ष, चित्रलेखा) और उषादेवी मित्रा (प्रिया) का योगदान उल्लेखनीय है।

प्रेमचन्द-युग में ही प्रकृतवादी उपन्यासों की परम्परा का सूत्रपात हो गया था। प्रकृतवाद अपने में एक विशिष्ट जीवन-दर्शन है जो मानव-जीवन को वैज्ञानिक दृष्टि से प्रकृत रूप में (स्वाभाविक) देखने और चित्रित करने में विश्वास रखता है। इस दृष्टि के अनुसार जीवन में जिसे विद्रूप और कुत्सित कहा जाता है, वह सहज और वैज्ञानिक भी है। चतुरसेन शास्त्री (हृदय की परख, व्यभिचार, हृदय की प्यास, अमर अभिलाषा, आत्मदाह), पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' (दिल्ली का दलाल, चाकलेट, चन्द हसीनों के खतूत, बुधुआ की बेटी, शराबी, सरकार तुम्हारी आँखों में, जीजा जी) और ब्रह्मचरण जैन (वेश्यापुत्र, मास्टर साहब, सत्याग्रह, बुर्कावाली, चाँदनी रात, दिल्ली का व्यभिचार, हर हाईनेस, कुराचार के अड्डे, मयखाना) ने हिन्दी में प्रकृतवादी उपन्यासों की रचना की और यथार्थ के नाम पर मानव-जीवन की विकृतियों का खुलकर वर्णन किया। लेकिन आगे इन विद्रूप और कुरूप के चित्रण को प्रोत्साहन नहीं मिला।

प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों में व्यक्तिवादी-धारणा का प्राधान्य रहा। व्यक्तिवादी, व्यक्ति की सत्ता और अस्तित्व को समाज से पहले

स्वीकार करता है। उनकी दृष्टि में समाज-व्यवस्था सहज एक माध्यम होती है, लक्ष्य व्यक्ति होता है। इसमें व्यक्ति का अहं प्रबल होता है। भगवतीचरण वर्मा (चित्रलेखा, टेढ़े-मेढ़े रास्ते) उपेन्द्रनाथ 'अश्क' (एक रात का नरक, सितारों से खेल), भगवतीप्रसाद वाजपेयी (पतिता की साधना, चलते-चलते, टूटते बन्धन) और उषादेवी मित्रा (वचन का मोल, जीवन का मुस्कान, पथचारी) ने व्यक्तिवादी दृष्टिकोण से उपन्यासों की रचना की है। इन उपन्यासकारों ने सामाजिक शक्तियों के स्थान पर व्यक्ति की चेतना और उसके व्यक्तित्व को अधिक महत्त्वपूर्ण माना है।

प्रेमचन्दोत्तर काल में हिन्दी में मनोविश्लेषणवादी उपन्यासकारों की एक ऐसी पंक्ति तैयार हुई जिसने हिन्दी को अनेक श्रेष्ठ उपन्यासों से समृद्ध किया है। जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी और अज्ञेय इस परम्परा के अग्रणी रचनाकार हैं। फ्रायड, एडलर, युंग आदि की मनोविश्लेषण सम्बन्धी मान्यताओं का इन लेखकों पर गहरा प्रभाव है। मनुष्य के अन्तर्जगत की सूक्ष्म एवं गहन पड़ताल करके उसके अन्तःसत्य को उद्घाटित करना इन लेखकों का उद्देश्य है। इन उपन्यासकारों पर फ्रायड के सिद्धान्तों का अधिक प्रभाव है। उसके कुंठावाद के आधार पर लेखकों ने मनुष्य की दमित वासनाओं, कुंठाओं, काम-प्रवृत्तियों अहं, दम्भ और हीन भावना आदि ग्रंथियों का चित्रण करके हिन्दी उपन्यास में व्यक्ति का ऐसा रूप प्रस्तुत किया जिसमें वह अपनी आन्तरिक छवि देख सकता है। मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों ने यह माना कि बाह्य सत्य की अपेक्षा अन्तः सत्य ही प्रामाणिक एवं विश्वसनीय है।

जैनेन्द्र के 'परख', 'सुनीता', 'त्यागपत्र', 'कल्याणी'; इलाचन्द्र जोशी के 'सन्यासी', 'पर्दे की रानी', 'प्रेत और छाया' और अज्ञेय के 'शेखर: एक जीवनी', 'नदी के द्वीप' जैसे उपन्यासों से यह कथा-परम्परा समृद्ध हुई है। जैनेन्द्र ने अपने उपन्यासों में सामाजिक मर्यादाओं के बीच अपनी पहचान बनानेवाले पात्रों की सृष्टि की है जो सामाजिक दबावों और व्यक्तिगत आग्रहों के चलते द्वन्द्वग्रस्त होकर आत्मयातना के शिकार हो गये हैं। वे समाज को न तोड़कर स्वयं टूटते हैं। जैनेन्द्र के दृष्टिकोण पर गांधीवाद का भी प्रभाव है। जैनेन्द्र का विश्वास है कि पीड़ा और व्यथा ही अहं को विगलित करने में समर्थ है। व्यथा का तीव्रतम रूप कामगत यातना में प्राप्त होता है। इसलिए जैनेन्द्र ने अपने उपन्यासों में कामपीड़ा और समर्पण का चित्रण करके अहं का विसर्जन किया है। इलाचन्द्र जोशी के उपन्यासों में मनोविश्लेषणवाद का इतना प्रभाव है कि उनके उपन्यास फ्रायड की मान्यताओं के साहित्यिक संस्करण प्रतीत होते हैं। उनके उपन्यासों के पात्र अनेक मनोग्रंथियों से पीड़ित रुग्ण और दुर्बल हैं

अज्ञेय मनोविश्लेषणवादी उपन्यासकारों में अपनी विद्रोह-भावना, वरण की स्वतन्त्रता और व्यक्तित्व की अद्वितीयता की विशिष्ट धारणा और उपन्यासों में उनके कलात्मक रचाव के कारण विशिष्ट स्थान रखते हैं। उनके 'शेखर : एक जीवनी' में मूलत: व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की समस्या उठाई गई है। इसका प्रधान पात्र शेखर जीवन की जटिल गहराइयों में डूबता-उतराता, अनेक प्रकार के प्रयोग करता, पारम्परिक मूल्यों को ठुकरा, एक ऐसे विद्रोही का रूप धारण कर लेता है जो बाद में अपने भी खिलाफ हो जाता है। 'नदी के द्वीप' में अज्ञेय का व्यक्तिवादी जीवन-दर्शन व्यक्त हुआ है। जिस प्रकार नदी का द्वीप धारा से कटा हुआ होता है, वैसा ही मध्यवर्गीय जीवन भी शेष जन-प्रवाह से विच्छिन्न है।

स्वातन्त्र्योत्तर काल में मनोविश्लेषणवादी उपन्यासकारों के साथ डा. देवराज का नाम भी उल्लेखनीय है जिन्होंने 'पथ की खोज', 'रोड़े-पत्थर' 'अजय की डायरी' और 'मैं, वे और आप' उपन्यासों की रचना की है। मनोविश्लेषणवादी उपन्यासकारों को प्रयोगवादी उपन्यासकार कहा गया है क्योंकि इन्होंने उपन्यास के कथ्य और शिल्प में प्रयोगशीलता को प्रश्रय दिया है।

प्रेमचन्द के बाद यशपाल, नागार्जुन, मन्मथनाथ गुप्त, रांगेय राघव आदि उपन्यासकारों ने यथार्थवादी परम्परा का समुचित विकास किया। 'दादा कामरेड', 'पार्टी कामरेड' जैसे उपन्यासों के साथ साथ यशपाल ने 'देशद्रोही', दिव्या' तथा आगे चलकर आजादी के बाद 'मनुष्य के रूप' और 'झूठा सच' जैसे वृहदकाय उपन्यासों का निर्माण किया। उनके उपन्यासों में प्रमुख रूप से भारतीय स्वाधीनता संघर्ष, समाज-संबद्धता, क्रान्ति और विद्रोह, प्रगतिशील जीवन-मूल्य और चेतना की अभिव्यक्ति हुई है। रांगेय राघव के 'घरौंदे', 'विषाद-मठ' और मन्मथनाथ गुप्त के 'शोले', 'मशाल' में भी प्रगतिशील जीवन-दृष्टि को अभिव्यक्ति हुई है।

ऐतिहासिक-पौराणिक लेखकों में वृन्दावनलाल वर्मा, चतुरसेन शास्त्री, राहुल सांकृत्यायन, हजारी प्रसाद द्विवेदी के नाम उल्लेखनीय हैं। ऐतिहासिक उपन्यासों में भारतीय इतिहास के उन अध्यायों और घटनाओं को चित्रित किया गया है, जिनसे वर्तमान को नयी दिशा और प्रेरणा मिलती है। इस दृष्टि से वृन्दावनलाल वर्मा को पर्याप्त सफलता मिली है। उनके 'गढ़ कुण्डार', 'विराट की पद्मिनी', 'झाँसी की रानी' जैसे उपन्यास स्वतन्त्रता से पहले और 'कचनार', 'मृगनयनी', 'अहिल्याबाई', 'भुवन विक्रम', 'माधव जी सिंधिया', 'रामगढ़ की रानी', 'महारानी दुर्गावती' आदि उपन्यास स्वतन्त्रता के बाद लिखे गये हैं। वर्मा जी ने अपने इतिहासप्रधान उपन्यासों में मध्यकालीन भारत के दबे-बिखरे शौर्य और

साहस को बड़ी ममता से संजोया है। अपने उपन्यासों में उन्होंने इतिहास के तथ्यों की रक्षा की है और ऐतिहासिक घटनाओं के माध्यम से राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना का प्रसार किया है।

भारतीय संस्कृति के सांश्लिष्ट प्रस्तुत करनेवाले चतुरसेन शास्त्री ने 'वैशाली की नगरवधू', 'सोमनाथ' तथा 'वयं रक्षाम:' की रचना कर आर्यों के धर्म, साहित्य, राज्यसत्ता और संस्कृति की पराजय और मिश्रित जातियों की प्रगतिशील संस्कृति का उद्घाटन किया। हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासों की परम्परा में एक नई दृष्टि लेकर 'बाणभट्ट की आत्मकथा', अनाम दास का पोथा, चारुचन्द्रलेख, पुनर्नवा जैसे उपन्यासों की रचना की। इन चारों में राष्ट्रीय तथा सांस्कृतिक धारा का प्रवहमान रूप सर्वत्र विद्यमान दिखाई देता है, साथ ही साथ द्विवेदी जी ने कहीं भी समसामयिकता को भी विस्मृत नहीं किया है। कथ्य, शिल्प, भाषा, शैली, संचेतना आदि सभी दृष्टियों से ये उपन्यास अनूठे हैं और प्रयोगशीलता इनकी विशेषता है।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद सामाजिक एवं मानवतावादी उपन्यासकार अमृतलाल नागर के अनेक महत्त्वपूर्ण उपन्यास प्रकाश में आये हैं। 'बूँद और समुद्र', 'सुहाग के नूपुर', 'शतरंज के मोहरे', 'अमृत और विष', 'बिखरे तिनके', 'नाच्यो बहुत गोपाल', 'मानस के हंस', 'खंजन नयन' और 'करवट' जैसे उपन्यासों से नागरजी को काफी प्रतिष्ठा मिली। 'बूँद' और 'समुद्र' को व्यक्ति और समाज के प्रतीक के रूप में लेकर उन्होंने व्यक्ति की सामाजिक-चेतना को प्रमुखता प्रदान की। 'नाच्यो बहुत गोपाल' दलित समाज के दुःख-दर्द का मार्मिक दस्तावेज है। 'मानस का हंस' में गोस्वामी तुलसीदास और 'खंजन नयन' में सूरदास का जीवन अंकित किया गया है, जो अनुसन्धान पूर्ण और कथा-रस प्रधान है। भगवतीचरण वर्मा के 'भूले बिसरे चित्र', 'सामर्थ्य और सीमा', 'सबहिं नचावत राम गोसाईं', 'सीधी सच्ची बातें'; उपेन्द्रनाथ अश्क की 'गिरती दीवारें', 'गर्म राख', 'शहर में घूमता आईना', 'बाँधो न नाव इस ठाँव बंधु' जैसे सामाजिक उपन्यास स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद की विशिष्ट उपलब्धि हैं। मनोविश्लेषणवादी उपन्यासकारों में इलाचन्द्र जोशी के 'मुक्तिपथ', 'जिप्सी जहाज का पंछी', 'भूत का भविष्य'; अज्ञेय के 'नदी के द्वीप', 'अपने अपने अजनबी'; सामाजिक-यथार्थवादी उपन्यासकार रांगेय राघव और भैरवप्रसाद गुप्त के अनेक उपन्यास इसी समय रचे गये, जो हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि है। तात्पर्य यह कि बदलते हुए सामाजिक-राजनीतिक यथार्थ के बीच पहले के रचनाकारों ने अपने समय से कभी प्रभावित होकर और कभी उसे प्रभावित करने की भावना से विविध विषयक उपन्यासों की रचना की और हिन्दी उपन्यास की गति को तीव्र से तीव्रतर बनाया।

आजादी के बाद हिन्दी में आँचलिक उपन्यास लिखने की विशेष प्रवृत्ति का उदय हुआ। इसके शुभारम्भ का श्रेय फणीश्वर नाथ 'रेणु' को है। बिहार के अंचल विशेष के जीवन - यथार्थ, रहन - सहन, आचार - विचार को पर्याप्त निजता और रागात्मकता के साथ चित्रित करते हुए रेणु ने 'मैला आँचल' और 'परती परिकथा' जैसे उपन्यासों की रचना की। उनके बाद उदय शंकर भट्ट (कब तक पुकारूँ), रामदरश मिश्र (पानी के प्राचीर, जल टूटता हुआ), राही मासूम रज़ा (आधा गाँव), शिव प्रसाद सिंह (अलग अलग वैतरणी), श्रीलाल शुक्ल (राग दरबारी), हिमांशु जोशी (अरण्य), विवेकी राय (बबूल, पुरुष पुराण, लोक ऋण, सोना माटी, समर शेष है), शैलेश मटियानी (कबूतरखाना, दो बूँद जल) शानी (काला जल) आदि आँचलिक उपन्यासों की रचना करके भारत के विभिन्न अंचलों के जीवन-यथार्थ, आशा-आकांक्षा, संघर्ष-टूटन, राजनीतिक - सामाजिक पिछड़ेपन - जागृति आदि का चित्रण किया।

नगरीकरण की तेज प्रक्रिया, पूँजीवादी लोकतन्त्र से मोहभंग, अस्तित्ववादी दर्शन तथा पश्चिमी प्रभाव के फलस्वरूप आधुनिकतावाद का जन्म हुआ। इसके प्रभाव स्वरूप पारम्परिक मूल्य बिखर गये, सामाजिकता की जगह वैयक्तिकता का प्राधान्य हो गया और व्यक्ति अपनी असमर्थता - असफलताओं से घिर कर हताश, निराश और कुंठित हो गया। इस दृष्टि से मोहन राकेश के 'अंधेरे बन्द कमरे', 'न आने वाला कल'; निर्मल वर्मा के 'वे दिन'; राजकमल चौधरी के 'मरी हुई मछली', 'शहर था: शहर नहीं था'; महेन्द्र भल्ला के 'एक पति के नोट्स'; उषा प्रियंवदा के 'रुकोगी नहीं राधिका', गिरिराज किशोर के 'यात्राएं'; मणि मधुकर के 'सफेद मेमने'; ममता कालिया के 'बेघर'; मन्नू भण्डारी के 'आपका बंटी' आदि उपन्यासों में व्यक्ति अकेला, ऊबा हुआ, संत्रस्त, यथार्थबोध से जीर्ण, अजनबियत से घिरा हुआ, थका-हारा ऐसा व्यक्ति है जिसको कोई भविष्य नहीं दिखाई देता, न कहीं आशा-उत्साह की कोई किरण दिखाई पड़ती है।

आधुनिकतावादी इन उपन्यासों के विपरीत प्रगतिवादी विचार-धारा से सम्पन्न उपन्यासकारों की वह परम्परा है, जिसका गहरा सम्बन्ध प्रेमचन्द की जनवादी परम्परा से है। इस दृष्टि से बदीउज्जमा के 'एक चूहे की मौत'; जगदीशचन्द्र के 'धरती धन न अपना'; काशीनाथ सिंह के 'अपना मोर्चा'; गिरिराज किशोर के 'जुगलबन्दी'; भीष्म साहनी के 'तमस'; रमेश चन्द्र शाह के 'गोबर गणेश'; जगदम्बा प्रसाद दीक्षित के 'मुर्दाघर'; रामदरश मिश्र के 'अपने लोग'; राही मासूम रज़ा के 'कटरा बी आरजू'; कृष्णा सोबती के 'जिन्दगीनामा'; मन्नू भण्डारी के 'महाभोज'; मनोहरश्याम जोशी के 'कुरु-कुरु स्वाहा' और मार्कण्डेय के 'अग्निबीज' जैसे उपन्यास के नाम उल्लेखनीय हैं। इन उपन्यासों में राजनीतिक उठा-पटक, लोकतन्त्र की

छीछालेदार, ग्रामीण जीवन की रेंगती-घसीटती जिन्दगी, जातिवादी संघर्ष, साम्प्रदायिक विद्वेष, उन्माद और संघर्ष, मुर्दा होते हुए सामाजिक सम्बन्ध, युवा-विद्रोह आदि का जीता-जागता चित्र कभी आलोचनात्मक और कभी व्यंग्यात्मक ढंग से तो कभी फैंटेसी के सहारे उपस्थित किया गया है।

समकालीन हिन्दी उपन्यास का जहाँतक प्रश्न है, इसमें किसी निर्दिष्ट प्रभाव, प्रवृत्ति या विचारधारा पर बल नहीं दिया जाता यद्यपि समय समय पर दलित विमर्श और नारी विमर्श के नारे सुनाई पड़ते हैं। बल्कि विषय वैविध्य ही इस समय की माँग है। विषयगत विविधता के साथ साथ शिल्पगत नवीनता और प्रयोगशीलता के कारण भी ये उपन्यास अपनी विशिष्ट पहचान लिये हुए हैं। ऐसे उपन्यासों में निर्मल वर्मा के 'रात का रिपोर्टर'; भीष्म साहनी के 'मय्यादास की माड़ी'; रामदरश मिश्र के 'बिना दरवाजे के मकान', 'दूसरा घर'; शिवप्रसाद सिंह के 'नीला-चाँद'; गोविन्द मिश्र के 'सात आँगनोंवाला घर', 'हजूर दरबार', 'धीर समीरे'; नरेन्द्र कोहली के 'रामकथा' के चार भाग, 'महासमर' के आठ भाग, अभिज्ञान, सुरेन्द्र वर्मा के 'मुझे चाँद चाहिए' आदि विभिन्न दृष्टियों से अपना वैशिष्ट्य रखते हैं। उत्तर-आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में उभर रहे कई अत्याधुनिक उपन्यासकारों में अब्दुल बिस्मिल्लाह, मंजुर एहतेशाम, संजीव, वीरेन्द्र जैन, कमलाकान्त त्रिपाठी, पंकज विष्ट, प्रियंवद आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

स्वातन्त्र्योत्तर काल के महिला उपन्यासकारों की एक लम्बी सूची सामने आती है, जो हिन्दी साहित्य के लिए एक विशेष उपलब्धि मानी जायगी। इनमें शशिप्रभा शास्त्री, शिवानी, कृष्णा सोबती, दीप्ति खण्डेलवाल, मन्नू भण्डारी, उषा प्रियंवदा, निरुपमा सेवती, मेहरुन्निसा परवेज, राजी सेठ, मृदुला गर्ग, ममता कालिया, चित्रा मुद्गल, मृणाल पाण्डेय, नासिरा शर्मा, सूर्यबाला, प्रभा खेतान, मैत्रेयी पुष्पा, अलका सरावगी आदि कतिपय बहुत चर्चित नाम हैं।

कुल मिलाकर, इधर के कुछ वर्षों में हिन्दी उपन्यास साहित्य में देश और काल की चेतना प्रखरता से अभिव्यक्त हुई है। उपन्यास के भाषा शिल्प में भी एक खुलापन आया है। नये नये औपन्यासिक प्रयोगों ने जीवन की विविधता को कलात्मक सजगता से वैचारिक स्तरों पर अभिव्यक्ति दी है।

कहानी

भारतेन्दु युग में कहानियों के नाम पर जो भी रचनाएँ पायी जाती हैं, वे महज कथात्मक शैली के निबन्ध हैं। अतः द्विवेदी युग से ही हिन्दी कहानी का आरम्भ माना जाता है। वस्तुतः 'सरस्वती' पत्रिका के प्रकाशन के साथ ही हिन्दी का जन्म हुआ है। हालाँकि आरम्भिक कहानियों में कुछ शेक्सपियर के नाटकों के आधार पर, कुछ संस्कृत-नाटकों के आधार पर, कुछ बंगला कहानियों को रूपान्तरित करके, कुछ लोक-कथाओं से प्रेरणा लेकर और कुछ जीवन की वास्तविक घटनाओं को दृष्टि में रखकर प्रस्तुत की गई। आरम्भिक कहानीकारों में किशोरीलाल गोस्वामी, माधव प्रसाद मिश्र, बंग महिला, रामचन्द्र शुक्ल, जयशंकर प्रसाद, वृन्दावनलाल वर्मा, गिरिजादत्त वाजपेयी, राधिकारमण प्रसाद सिंह आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। किशोरीलाल गोस्वामी की कहानी 'इन्दुमती' 'सरस्वती' के प्रकाशन के साथ ही सन् 1900 में प्रकाशित हुई। लेकिन इस पर शेक्सपियर के 'टेम्पेस्ट' का प्रभाव होने के कारण प्रथम मौलिक हिन्दी कहानी होने का गौरव इसे नहीं मिला। सन् 1902 में भगवानदास की कहानी 'प्लेग की चुड़ैल'; 1903 ई० में रामचन्द्र शुक्ल की 'ग्यारह वर्ष का समय'; 1903 ई. में गिरिजादत्त वाजपेयी की 'पण्डित और पण्डितानी'; 1907 ई. में बंगमहिला की 'दुलाईवाली', 1909 ई. में वृन्दावनलाल वर्मा की 'राखीबन्द भाई'; 'सरस्वती' पत्रिका में ही प्रकाशित हुई। सन् 1909 को काशी से 'इन्दु' पत्रिका के प्रकाशित होने पर जयशंकर प्रसाद की 'ग्राम' (1911 ई.), राधिकारमण प्रसाद सिंह की 'कानों में कंगना' (1913 ई.) कहानियाँ प्रकाश में आईं। फिर प्रसादजी की भावात्मक कहानियाँ लगातार 'इन्दु' में छपने लगीं तो 'प्रेमचन्द' की कहानियाँ प्रयाग से प्रकाशित 'सरस्वती' पत्रिका में नियमित छपती रहीं। उनकी 'सौत', 'पंचपरमेश्वर', 'सज्जनता का दण्ड', 'ईश्वरीय न्याय', 'दुर्गा का मन्दिर' आदि इसी दौर की कहानियाँ हैं। ज्वालादत्त शर्मा की 'मिलन', विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' की 'रक्षाबन्धन', पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की 'झलमला' आदि इसी समय की कहानियों के बीच चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' की कहानी 'उसने कहा था' के प्रकाशन से हिन्दी साहित्य-जगत में खलबली मच गई। सर्वश्रेष्ठ, शिल्प समृद्ध कहानी के अविभूत होकर इस कहानी ने सबके कान खड़े कर दिये। प्रेम, बलिदान और कर्त्तव्य की भावना से अनुप्राणित लगभग कहानियाँ लिखी गई हैं किन्तु यह कहानी अपनी मार्मिकता और सघन गठन के कारण आज भी अद्वितीय बनी हुई है। हिन्दी कहानी के आरम्भिक काल में ही ऐसी श्रेष्ठ रचना का प्रकाशित होना एक महत्त्वपूर्ण घटना है।

फिर भी प्रारम्भिक दौर की हिन्दी कहानियाँ भाषा, शिल्प, संवेदना, उद्देश्य, शैली आदि सभी दृष्टियों से अपरिपक्वता ली हुई हैं। जीवन-यथार्थ के कठोर साक्षात्कार से रहित इन कहानियों में आदर्श और कल्पना का ऐसा लोक था,

विस्मय-विमुग्ध करके आनन्दित तो करता था किन्तु पाठक में संघर्ष-चेतना को उद्दीप्त करने में असमर्थ था। प्रेमचन्द के आगमन से हिन्दी कहानी को एक नई दिशा और दृष्टि मिली। उन्होंने हिन्दी के प्राचीन कथा-शिल्प को तोड़कर युगानुरूप उसे नया रूप-रंग प्रदान किया।

पहली बार हिन्दी को मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, जीवन के यथार्थ चित्रण और स्वाभाविक वर्णन से जोड़ने का सारा श्रेय प्रेमचन्द को है। उन्होंने तत्कालीन साहित्य में कल्पना की मात्रा कम करने की अपील की। प्रेमचन्द ने सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक यथार्थ को केन्द्र में रखकर मानवीय संवेदना और हिन्दी कथा-संसार से देवता, राजा और ईश्वर के स्थान पर दीन, दलित, शोषित प्रताड़ित मनुष्य को नायक के पद पर प्रतिष्ठित किया। उन्हीं की वजह से हिन्दी कहानी को एक स्वतन्त्र पहचान मिली। यही कारण है कि इस युग को 'प्रेमचन्द-युग' या विकास-युग कहा जाता है। प्रारम्भ में प्रेमचन्द ने गान्धीजी के प्रभावस्वरूप आदर्शवादी और सुधारवादी कहानियाँ लिखीं जिनमें देशभक्ति के साथ-साथ आदर्श, नैतिकता, मर्यादा, कर्तव्यपरायणता, आदि का स्वर काफी ऊँचा है। 'सौत', 'पंच परमेश्वर', 'विचित्र होली', 'आहुति', 'जुलूस', 'सत्याग्रह', 'शतरंज के खिलाड़ी', 'नमक का दारोगा', 'बड़े घर की बेटी', 'अलग्योझा' आदि अनेक कहानियाँ प्रेमचन्द की उपर्युक्त कथा-प्रवृत्ति को समझने में सहायक है।

फिर सन् 1916 से 1936 ई. तक लगातार कहानियाँ लिखकर प्राय 300 कहानियों हिन्दी साहित्य-जगत को दी। उनके कथा-लेखन में बराबर परिवर्तन और विकास होता रहा है। पहले उन्होंने सुधारवादी आन्दोलन के प्रभाव से सरल और हृदय-परिवर्तन वादी कहानियाँ लिखीं, फिर आगे चलकर क्रूर यथार्थवाली कहानियाँ लिखीं। उनकी 'सवासेर गेहूँ', 'मुक्तिमार्ग', 'सद्गति', 'पूस की रात', 'बाबाजी का भोग', 'कफन' जैसी अनेक कहानियाँ उल्लेखनीय हैं। प्रेमचन्द की कहानियों में कथानक की जो सघन अन्विति, सहज प्रवाह, चरम सीमा में मार्मिकता, चित्रण की यथार्थता, भाषा की सादगी और अभिव्यक्ति में पैनापन है, वह बहुत कम कहानीकारों में दिखाई पड़ता है।

प्रेमचन्द की तरह सामाजिक यथार्थ को केन्द्र में रखकर कहानी लिखनेवालों में सुदर्शन, विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', भगवती प्रसाद वाजपेयी, ज्वालादत्त शर्मा आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। कौशिक की 'ताई', 'रक्षाबन्धन', 'विधवा', 'इक्केवाला'; सुदर्शन की 'हार की जीत', 'सूरदास', 'हेरफेर'; भगवती प्रसाद की 'निन्दिया लागी', 'मिठाईवाला' आदि कहानियाँ उल्लेखनीय हैं। इन कहानियों ने अपनी मार्मिक संवेदना, मानव-हृदय की सच्ची अभिव्यक्ति और मनोवैज्ञानिक चित्रण के कारण पाठकों के हृदय पर अमिट छाप छोड़ी है।

हिन्दी कहानी के विकास में प्रेमचन्द की ही तरह जयशंकर प्रसाद का योगदान भी उल्लेखनीय है। प्रसाद जी कवि पहले हैं, कथाकार बाद में।

इसलिए ऐसी कहानियों की रचना की जिनमें भावुकता, कल्पना प्रवणता और काव्यात्मकता की प्रधानता है। उन्होंने अपनी कहानियों के माध्यम से भारतीय संस्कृति और इतिहास के उन स्वर्णिम अध्यायों को फिर से प्रकाशित किया जिनमें देशप्रेम, आत्मगौरव, आदर्श प्रेम और कर्त्तव्य की मार्मिक झाँकी अंकित है। अतीत के गौरव-गान के द्वारा प्रसाद जी ने प्रकारान्तर से राष्ट्रीय-स्वाधीनता-संघर्ष को काफी बल प्रदान किया। इस दृष्टि से उनकी 'देवरथ', 'सालवती', 'पुरस्कार', 'सिकन्दर की शपथ', 'चित्तौड़ का उद्धार' जैसी कहानियाँ उल्लेखनीय हैं। प्रसाद की ऐतिहासिक इतिवृत्त पर लिखी गई ऐसी अनेक कहानियाँ हैं जो प्रेम-भावना के विभिन्न रूपों को उद्घाटित करती हैं जैसे 'तानसेन', 'रसियाबालम', 'गुलाम', 'जहाँनारा', 'मदन-मृणालिनी' आदि। प्रसाद जी मूलतः प्रेम और सौन्दर्य के रचनाकार हैं। यह उनकी विशिष्टता भी और एक हद तक सीमा भी। प्रसाद जी की प्रकृति अन्तर्मुखी थी, जिसके कारण उनकी अधिकांश कहानियों में व्यक्तिवादी रचना-दृष्टि दिखाई पड़ती है, किन्तु उनकी अनेक कहानियाँ ऐसी हैं जिनमें सामाजिक-राजनीतिक चिन्ताओं और समस्याओं की अभिव्यक्ति प्रभावशाली ढंग से हुई है। 'बिसाती' और 'मधुआ' जैसी कहानियाँ लिखकर प्रसाद जी ने सामान्य जन के प्रति भी अपना गहरा राग प्रदर्शित किया है।

एक ही समय के होते हुए भी प्रेमचन्द और प्रसाद प्रेरणा, भावना और रचना-दृष्टि के धरातल पर एक-दूसरे से भिन्न थे। हालाँकि हिन्दी कहानी को दोनों ने अपने-अपने ढंग से विकसित किया। लेकिन एक-दूसरे के विरोधी न थे, बल्कि परिपूरक थे। प्रेमचन्द समाजवादी-यथार्थवादी धारा के पक्षधर थे तो प्रसाद जी प्रसाद जी भाववादी व्यक्तिवादी धारा के। जिस प्रकार प्रेमचन्द की समाजपरक यथार्थवादी धारा में अनेक कहानीकारों ने रचनात्मक योगदान दिया, उसी प्रकार प्रसाद जी की भाववादी धारा को भी चण्डी-प्रसाद 'हृदयेश', रामकृष्ण दास, वाचस्पति पाठक, मोहनलाल महतो, विनोदशंकर व्यास, चतुरसेन शास्त्री ने अपनी कहानियों में गति प्रदान की।

प्रेमचन्द-युग में ही पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' एक ऐसे कहानीकार थे, जो किसी भी धारा से जुड़े नहीं थे। उन्होंने स्वतन्त्र रूप से साहित्य-साधना की और अपनी एक स्वतन्त्र पहचान बनाई। उन्होंने 'उसकी माँ' 'दोजख की आग', 'चिनगारी', 'बलात्कार', 'भुनगा' आदि कहानियों की रचना करके राजनीतिक एवं सामाजिक यथार्थ का प्रकट रूप प्रस्तुत किया जिसके-लिए उनकी कटु आलोचना भी हुई। फिर भी इन आलोचनाओं की परवाह किये बिना ही वे सामाजिक-राजनीतिक विसंगतियों पर करारा व्यंग्य करते रहे और राजनीतिक जीवन की कुरीतियों-त्रुटियों का पर्दाफाश करते रहे। साथ ही हिन्दू-मुस्लिम एकता, विधवा की स्थिति, अवैध सन्तान, वेश्या वृत्ति, और व्यभिचार आदि पर 'उग्र' ने बेबाकी के साथ लिखा है।

प्रेमचन्द की सामाजिक यथार्थवादी परम्परा अपेक्षाकृत व्यापक है और इसमें बहुआयामी प्रसार की सम्भावनाएँ हैं। तभी तो हिन्दी कहानी को यशपाल जैसे मार्क्सवादी और प्रगतिशील; इलाचन्द्र जोशी, जैनेन्द्र और अज्ञेय जैसे मनोविश्लेषक कहानीकार प्राप्त हुए। इस तरह प्रेमचन्द के समय से ही चली आ रही समाजवादी और व्यक्तिवादी धारा का यहाँ मार्क्सवाद और मनोविश्लेषणवाद के आलोक में नया विकास हुआ। इन धाराओं से जुड़े रचनाकारों की प्रतिबद्धताएँ और मान्यताएँ इतनी स्पष्ट और दृढ़ रही हैं कि उन्हें केवल 'यथार्थवादी' की सीमा में लाकर एक नहीं कहा जा सकता है।

प्रेमचन्द के सामाजिक यथार्थ को मार्क्सवादी दृष्टिकोण से प्रस्तुत करनेवाले अग्रणी कहानीकार हैं यशपाल। उन्होंने सामाजिक शोषण, दरिद्रता, नग्नता, अन्याय, अत्याचार, उत्पीड़न आदि को अपनी कहानियों का विषय बनाया और हमारे सामाजिक, राजनीतिक, नैतिक एवं सांस्कृतिक जीवन के संघर्षों, मूल्यों, मर्यादाओं एवं नैतिकता के खोखलेपन को उद्घाटित किया। उन्होंने 'कर्मफल', 'फूल की चोरी', 'चार आने', 'पुनियाँ की होली', 'आदमी का बच्चा', 'परदा', 'फूलों का कुर्ता', 'धर्मरक्षा', 'करवा का व्रत', 'पतिव्रता' आदि कहानियों में आर्थिक एवं सामाजिक विषमता के दोषों, तज्जनित परिणामों और कुरीतियों की मार्मिक अभिव्यक्ति की। यशपाल ने मर्यादा, धर्म और नैतिकता के थोथेपन पर तीव्र आघात किया और उसके विरुद्ध अपने पात्रों में संघर्ष-चेतना जाग्रत की। उनकी कहानियों में व्यंग्य का स्वर मुखरित हुआ, कहानी-कला में स्थूल समाज-चित्रण के स्थान पर उसके मार्मिक एवं सांकेतिक उद्घाटन की कला का विकास हुआ, कहानी की स्थूलता समाप्त हुई और उसे सूक्ष्म संगठित व्यक्तित्व प्राप्त हुआ। यशपाल की इस मार्क्सवादी यथार्थवादी कला-दृष्टि को प्रश्रय देनेवाले कहानीकारों में रांगेय राघव, भैरवप्रसाद गुप्त, नागार्जुन आदि के नाम उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने शोषण, अन्याय और पूँजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष-भाव को प्रेरित करनेवाली कहानियाँ लिखीं। रांगेय राघव ने राष्ट्रीय स्वाधीनता-संघर्ष, बंगाल का अकाल, देश-विभाजन, साम्प्रदायिक विद्वेष, मजदूरों की देशव्यापी हड़तालों, गोलीकांड, बेरोजगारी और भुखमरी आदि को विषय बनाकर जो कहानियाँ लिखीं, वे उनकी सामाजिक-राजनीतिक जागरूकता का पता देती हैं। उनकी उल्लेखयोग्य कहानियों में 'गदल', 'मृगतृष्णा', 'कुत्ते की दुम शैतान' आदि के नाम लिये जा सकते हैं। भैरवप्रसाद गुप्त की कहानियों में 'सपने का अन्त', 'सिविल लाइन का कमरा', 'फंदा', 'इन्सान और मक्खियाँ', 'ऐसी आजादी रोज-रोज' आदि अत्यन्त लोकप्रिय हैं।

इसी समय जैनेन्द्र और इलाचन्द्र जोशी ने मनोवैज्ञानिक यथार्थ को केन्द्र में रखकर अपनी कहानियों में मानव-मन को चित्रित किया और उसकी अतल गहराइयों में डूबकर उसके अन्तःसत्य को उद्घाटित किया। फ्रायड के प्रभाव से उनकी कहानियों में मनुष्य की दमित वासनाओं, इच्छाओं, रुग्ण मनोवृत्तियों अहंकार, आत्मरति, ईर्ष्या, अन्धविश्वास आदि का सूक्ष्म, प्रतीकात्मक और सांकेतिक

अंकन हुआ है। जोशी जी का विचार है कि मनुष्य का असली रूप उसके भीतर-मन में विद्यमान है, अतः उसके अन्तर्मन की परतों को उधेड़कर ही उसे जाना जा सकता है। इस दृष्टि से उनकी 'रोगी', 'परित्यक्ता', 'खण्डहर की आत्माएँ' 'दुष्कर्मी', 'बदला' आदि कहानियाँ आन्तरिक यथार्थ का चित्रण तो करती हैं, पर कलात्मकता की दृष्टि से उतनी सफल नहीं कही जा सकतीं। लेकिन जैनेन्द्र ने व्यावहारिक मनोविज्ञान का सहारा लिया। उनकी 'पत्नी', 'पाजेब', 'जाह्नवी', 'ग्रामोफोन का रिकार्ड', 'एक गो' जैसी कहानियों में केवल मनोवैज्ञानिक तर्क नहीं है, बल्कि उनमें गहरी मानवीय संवेदना और वास्तविकता भी है। जैनेन्द्र का मनोवैज्ञानिक चित्रण स्वस्थ एवं स्वच्छ है, उसमें विश्वसनीयता और आत्मीयता है।

सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' इस परम्परा के तीसरे महत्वपूर्ण कहानीकार हैं। उनमें मनोवैज्ञानिक पकड़ के साथ चिन्तन की गहराई और सूक्ष्मता है जो कभी कभी दार्शनिक ऊँचाई भी प्राप्त कर लेती है। उन पर सार्त्र और फ्रायड दोनों का प्रभाव है। उनकी 'जयदोल', 'कोठरी की बात', 'रोज', 'परंपरा', 'द्रोही', 'शरणदाता', 'विपथगा' आदि कहानियाँ उनके गूढ़ चिन्तन, मनोवैज्ञानिक चित्रण और विद्रोही स्वभाव का परिचय देने में सक्षम हैं।

मार्क्सवादी एवं मनोविश्लेषणवादी कहानीकारों के बीच कुछ ऐसे भी कहानीकार थे जिनकी अपनी स्वतन्त्र राह थी। जैसे, भगवती-चरण वर्मा और उपेन्द्रनाथ 'अश्क'। भगवतीचरण वर्मा ने दो 'बाँके', 'मुगलों ने सल्तनत बख्श दी', 'प्रायश्चित', 'इन्स्यालमेंट', 'दो पहलू' जैसी व्यंग्य प्रधान कहानियों की रचना करके अपने समकालीन राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक जीवन की भूलों-त्रुटियों को जमकर खिल्ली उड़ाई। 'अश्क' ने 'वह मेरी मंगेतर थी', 'काले साहब', 'कांगड़ा का तेली', 'बैंगन का पौधा', 'पिंजरा' जैसी कहानियों के माध्यम से सामाजिक यथार्थ की व्यंग्यात्मक अभिव्यक्ति की, साथ ही आदर्श और यथार्थ की एक साथ व्यंजना करके प्रगतिशील जीवन-दृष्टि को प्रस्तुत करने का कार्य किया। इन्हीं कहानीकारों के साथ छायावाद की कुछ महत्वपूर्ण कवियों - महादेवी वर्मा, निराला, पंत - ने भी कहानियाँ लिखीं जिनमें निराला की ही कहानियाँ अपनी प्रगतिशील-चेतना के कारण चर्चा के योग्य बन सकीं। महादेवी की कहानियों ने संस्मरण और रेखाचित्र का रूप ले लिया।

प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी कहानी के कई रचनाकार स्वातन्त्र्योत्तर

काल में भी लिखते रहे। बदलते परिप्रेक्ष्य में उन्होंने हिन्दी कहानी को नई गति और दिशा देने में कोई कसर नहीं छोड़ा। लेकिन वस्तु, शिल्प और संचेतना में हुए व्यापक परिवर्तन ने कई प्रकार के कहानी आन्दोलनों को जन्म दिया। नई कहानी, सचेतन कहानी, अकहानी, सहज कहानी, सक्रिय कहानी, समान्तर कहानी, जनवादी कहानी आदि के नाम से समय समय पर सर उठाते कहानी-आन्दोलनों ने एक तरफ जहाँ हिन्दी कहानी को नई समृद्धि, दृष्टि और कलात्मक ऊँचाई दी है, वहाँ दूसरी तरफ संकीर्णताओं, अविचारित आग्रहों और स्वार्थों के कारण उसे क्षति भी पहुँचायी है।

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कहानीकार के रूप में नई पीढ़ी के जो कहानीकार उभर कर आये उनमें विष्णु प्रभाकर, कमल जोशी, निर्गुण, अमृतराय, चन्द्रकिरण सौनरिक्सा, राधाकृष्ण आदि के नाम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। छठे दशक की कहानियाँ आत्म संघर्ष और नाटकीय तनाव के कारण पहलेसे अलग हो जाती हैं। पहले तो ग्रामांचल की कहानियों ने ध्यान आकृष्ट किया। इसके साथ साथ नगरों और कस्बों की कहानियाँ भी लिखी गईं। ग्रामांचल के कहानीकारों में शिवप्रसाद मिश्र, मार्कण्डेय और फणीश्वर नाथ रेणु के नाम मुख्य हैं। इनकी कहानियों में गाँव की मिट्टी की जो सोंधी महक और गाँव के लोगों का जो जीवन देखने को मिला, वह पहले के चित्रण से भिन्न था। पहले गाँव अपने परिपार्श्व को पूर्णता में चित्रित नहीं हो पाये थे, किन्तु इन लेखकों ने गाँव के जो चित्र या चरित्र प्रस्तुत किये वे मूलतः रोमैण्टिक थे। शिवप्रसाद सिंह अपनी आरम्भिक कहानियों में अतीतोन्मुख थे। एक ओर जहाँ वे रोमैंटिक हैं वहाँ पूर्वजों के मूल्यगत प्रतिमानों ने उन्हें मोहग्रस्त भी बना दिया है; पर यह यथार्थ उनका भोगा हुआ न होकर केवल देखा या सुना हुआ है। किन्तु जहाँ वे अतीतोन्मुख नहीं हैं वहाँ उनकी कहानियाँ अधिक यथार्थपरक रही हैं; 'आर पार की माला', 'मुर्दा सराय', 'इन्हें भी इन्तजार है' आदि उनके सफल कहानी संग्रह हैं। मार्कण्डेय की ग्रामांचल की कहानियों में भी पहले पहल अतीतोन्मुखता दिखाई पड़ी। 'गुलरा के बाबा', 'हंसा जाई अकेला' में अतीत के प्रति रोमानी दृष्टिकोण है। बाद में उन्होंने गाँव में उगते हुए वर्ग-संघर्ष को पहचानने और चित्रित करने की कोशिश की और सफल भी हुए। 'महुए का पेड़', 'हंसा जाई अकेला', 'भूदान', 'माही' आदि उनके प्रकाशित कहानी-संग्रह हैं। रोमैंटिक यथार्थ का सर्वाधिक चटकीला, समग्र और आत्मीयतापूर्ण रंग रेणु की कहानियों में मिलता है। गाँव की धूल-माटी, आँगन की धूप, बैलों की घण्टियाँ, धान की झुकी हुई बालियाँ, गमकता चावल, मेला-ठेला, हँसी-ठिठोली आदि के वर्णन में गाँव ही नहीं, पूरा अंचल उभर आता है। इस दृष्टि से 'लाल पान की बेगम' और 'तीसरी कसम' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

ग्रामांचल से हटकर भी परम्परा के इसी मोड़ पर रांगेय राघव, भीष्म साहनी, शेखर जोशी, अमरकान्त, श्रीमती विजय-चौहान, ओंकारनाथ श्रीवास्तव, शैलेश मटियानी, मधुकर गंगाधर, शानी आदि आते हैं। इन्होंने प्रेमचन्द की परंपरा को आगे बढ़ाया है। शेखर जोशी की कहानी 'कोसी का घटवार' रोमानी स्पर्श से रिक्त न होते हुए भी अधिक यथार्थ है, अमरकान्त की 'जिन्दगी और जोंक' आधुनिकता-बोध के जीवन आयाम को छूती है, पर रांगेय राघव की 'गदल' संघर्षशील मूल्यों के कारण श्लाघ्य होते हुए भी अतिनाटकीय हो गई है।

स्वातन्त्र्योत्तर कालीन कहानीकारों ने एक ओर पुराने मूल्यों के प्रति रोमानी दृष्टि को अभिव्यक्ति की तो दूसरी ओर युगीन संक्रमण के अधिकाधिक दबाव का अनुभव भी किया। इसी दबाव के कारण तनाव, मूल्यों की श्लाघा और विविध संदर्भों की कहानियाँ लिखी गईं। मोहन राकेश तनावों के कहानीकार हैं, राजेन्द्र यादव की कहानियों में वैयक्तिकता पर सामाजिकता हावी रहती है और कमलेश्वर तनावों के बीच मूल्यान्वेषण के लिए सचेष्ट रहते हैं। देश के विभाजन की परिणति व्यापक रक्तपात में ही नहीं हुई, बल्कि दो सम्प्रदायों के बीच दुराव, सन्देह, त्रास, डर, घृणा आदि मानसिक अवधारणाओं में भी हुई। अज्ञेय, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, अश्क आदि ने भी इस विषय पर कहानियाँ लिखीं।

इसी समय हिन्दी के कतिपय प्रसिद्ध कवियों ने भी कहानी-लेखन में मनोनिवेश किया जिससे आलोचकों को आशंका हुई कि कहीं कविता कहानी पर हावी न हो जाय। ऐसे कहानीकारों में नरेश मेहता, रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर-दयाल सक्सेना, धर्मवीर भारती, कुंवर नारायण, रामदरश मिश्र आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। लेकिन और कवियों की कहानियों में थोड़ा-बहुत काव्य-प्रभाव भले ही हो, पर धर्मवीर भारती ने सदा कविता को कहानी से बिल्कुल अलग रखा।

आलोच्य काल में मन्नू भण्डारी, कृष्णा सोबती, शिवानी, उषा प्रियंवदा, रजनी पनिकर, मेहरुन्निसा परवेज, विजय-चौहान आदि महिला कहानीकारों ने पारिवारिक समस्याएँ तथा नारी मन: स्थिति को लेकर ढेर सारी उत्कृष्ट कहानियाँ रचीं जो कदाचित इतनी बारीकियों से लेखकों द्वारा चित्रित नहीं हो पाता। 'मैं हारगयी', 'तीन निगाहों की एक तस्वीर' और 'यही सच है' जैसे कहानी-संग्रहों के जरिए मन्नू जी ने नारी-मन के भावों, स्थिति विशेष में पुरुष के मन में जगनेवाली शंकाओं, ईर्ष्याओं आदि का सूक्ष्म चित्रण किया है। कृष्णा सोबती सेक्स जन्य भावुकता को ही उभाड़कर रह जाती हैं। शिवानी की कहानियों में सेक्स भी है और किसी सीमा तक नारी मनोविज्ञान को आधुनिक जीवन के नये आयामों में देखने की इच्छा भी है। उषा प्रियंवदा आधुनिकता-बोध की कहानीकार हैं। वे न कमजोर लड़की की कहानी कहती हैं और न भावाविष्ट

क्षणों की सच्चाई को सच्चाई मानती हैं, बल्कि उन्होंने विशेष परिस्थितियों में अकेलेपन, बेबसी, हार और लाचारी की मानवीय नियति को आकलित किया है।

आधुनिकता-बोध को लेकर सातवें दशक से उभरनेवाले समकालीन कहानीकारों में निर्मल वर्मा, श्रीकान्त वर्मा, रामकुमार, विजय चौहान, राजकमल चौधरी, ज्ञानरंजन, दूधनाथ सिंह, गंगा प्रसाद विमल, गिरिराज किशोर, रवीन्द्र कालिया, महेन्द्र भल्ला, ज्ञानप्रकाश, काशीनाथ सिंह, प्रानु खोलिया आदि के नाम लिये जा सकते हैं। निर्मल वर्मा अपनी जमीन की परम्परा, यहाँ की चाल-चलन, मन:स्थितियों से दूर पाश्चात्य परम्परा में आधुनिकता-बोध के चक्कर में रोमानी रुचि से सराबोर नजर आते हैं। 'लन्दन की एक रात' और 'कुत्ते की मौत' आदि कहानियों में जीवन की अनिश्चितता, घुटन, निरर्थकता, ऊब और बेगानगी को जिस संपृक्तता में उठाया गया है, वह किन्हीं स्वीकृतियों या प्रतिपक्षताओं की ओर भी संकेत करती है। पारम्परिक कथाओं, घटनाओं और चरित्रों द्वारा निर्मित होनेवाली कथाओं को तोड़ते हुए जिन्दगी के छोटे-छोटे टुकड़ों, तेजी से बदलते हुए दृश्यों, छोटी-छोटी घटनाओं और अर्थपूर्ण प्रतीकों द्वारा युग-जीवन को इन कथाकारों ने अभिव्यक्ति दी और अपने को प्रतिबद्धताओं से मुक्त रखने का प्रयास किया। श्रीकान्त वर्मा की कहानियों को ब्रेन ट्यूमर की कहानियाँ कहा जाता है, जो प्राय प्रेम की चारों ओर चक्कर लगाता पाया जाता है। स्थिति की अनिर्णयात्मकता, एकचित्तता का अभाव, बेहद बेचैनी आदि उनकी कहानियों का अन्त:स्वर है। ज्ञानरंजन अपनी वस्तुनिष्ठता, सन्तुलन और संयम के कारण सबसे भिन्न और विशिष्ट माने जाते हैं। दूधनाथ सिंह की कहानी 'रक्तपात' में कटाव, अलगाव और निर्वासन चरम सीमा पर पहुँच गया है। गंगाप्रसाद विमल की कहानी 'एक और विदाई' में भी गुमशुदा पहचान की तलाश है, पर यह कहानी सिद्धान्त के जाल में उलझकर कहानीपन खो देती है। 'पेपरवेट' में संकलित कहानियों में गिरिराज किशोर ने बाबू टबके के अन्तर्विरोध और विसंगतियों को चित्रित किया है, पर प्राय: वे अपने संदर्भों में ही ठिठककर रह गये हैं। रवीन्द्र कालिया की कहानियों में स्पष्टत: रोमांस-विरोधी मुद्रा दिखाई पड़ती है। वे हरतरह की शिष्टता और अभिजात्य का मजाक उड़ाते हैं, जो आम तौर से किसी और की रचनाओं में दिखाई नहीं देता। महेन्द्र भल्ला-कृत 'एक पति के नोट्स' में आत्मनिर्वासन का वह दर्द है जिसे वह खुद झेलता है। यह आधुनिकता-बोध से संपृक्त हर व्यक्ति का दर्द है कि जिस जिंदगी को वह नहीं चाहता, वही जीनी पड़ती है। काशीनाथ सिंह की कहानियाँ 'चाय घर में मृत्यु', 'चोट' और 'हस्तक्षेप' आधुनिकता से अम्युदिष्टता की ओर बढ़ती हैं। इनकी भाषा ऊपर से सपाट है, पर भीतर से जटिल अर्थों को व्यक्त करती है।

इधर के कहानीकारों में सिद्धेश, प्रकाश बाथम, हृषिकेश, सुदर्शन नारंग, महीप सिंह, पृथ्वीराज मोंगा, सुरेश सिन्हा, रमेश उपाध्याय, जितेन्द्र भाटिया, नरेन्द्र कोहली, गोविन्द मिश्र, हृदयनाथ, वेद राही, श्रवणकुमार आदि अनेक नाम आते हैं। महिलाओं में ममता कालिया, सुधा अरोड़ा, निरुपमा सेवती, अनिता

ओलक, वर्तिका अग्रवाल, दीप्ति खण्डेलवाल आदि ने भी आधुनिकता-बोध की कहानियाँ लिखी हैं। इनकी कहानियों में सामान्यतः स्त्री के स्वतन्त्र व्यक्तित्व के चित्र आँके गये हैं। यहाँ तक कि सेक्स के सम्बन्ध में भी इन्हें कोई झिझक और सेमानी संकोच नहीं है।

समकालीन हिन्दी कहानी में विचारधारात्मक लेखन का उत्साह थोड़ा ठण्डा पड़ा है और कहानीकार जीवन के सच को उसकी विविधता और बहुरूपता में चित्रित करने की दिशा में अग्रसर हुआ है। उदय प्रकाश जैसे कहानीकारों ने कहानी के कथ्य और शिल्प में नवीनता और प्रयोगशीलता को प्रश्रय देकर कहानी को फार्मूलाबद्ध होने से बचाने की सार्थक कोशिश की है। वैसे समकालीन कहानीकारों में आज भी ऐसे कहानीकार हैं जो किसी दल या संगठन के प्रवक्ता अधिक हैं कहानीकार कम।

कहानी-आन्दोलनों ने हिन्दी कहानी को बराबर एक नई दिशा दी है, इतना अवश्य है कि इन आन्दोलनों ने यदि कहानी के कथ्य और शिल्प में व्यापक परिवर्तन उपस्थित किया है तो उसकी कुछ सीमाएं भी निर्धारित की हैं। वस्तुतः जब ये आन्दोलन व्यापक उद्देश्य को लेकर चले, तब तो उन्होंने साहित्य और विधा का हित किया; लेकिन जब वे व्यक्तिगत स्वार्थों और दिलों के साधन बन गये तो दोनों का अहित भी किया। साहित्य में विचारधारा के महत्व को कम करके नहीं आँका जा सकता है लेकिन विचारधारा की कलात्मक अभिव्यक्ति को भी नजरअंदाज नहीं किया जा सकता।

निबन्ध

नई सांस्कृतिक और राजनीतिक चेतना के परिप्रेक्ष्य में हिन्दी निबन्ध का प्रारम्भ हुआ। नवजागरण की चेतना ने हमारी मानसिकता को परिवर्तित कर हमारे बोध और संवेदना को आधुनिक बनाया। भारतेन्दु युग में विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं के उद्भव के साथ ही निबन्ध का जन्म हुआ। वस्तुतः अन्य गद्य-विधाओं की तुलना में विचारों को सीधे व्यक्त करने का बलिष्ठ साधन है निबन्ध। निबन्धों में शैली के आकर्षण और कथन की भंगिमा के वैशिष्ट्य को बनाये रखकर भी सीधे किसी विषय पर बात की जा सकती है।

हिन्दी निबन्धों का आरम्भ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से ही माना जाता है। भारतेन्दु मण्डल के ही दो प्रमुख सदस्य बालकृष्ण भट्ट, प्रताप नारायण मिश्र ने इस गद्य-विधा को अधिक प्रसारित व समृद्ध किया। इस युग के अन्य निबन्धकारों में बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', लाला श्रीनिवास दास, राधाचरण गोस्वामी, काशीनाथ खत्री आदि के नाम लिये जा सकते हैं। इन सबके सम्बन्ध किसी-न-किसी पत्रिका से रहा है, जिनमें 'हरिश्चन्द्र मैगजीन', 'ब्राह्मण', 'हिन्दी प्रदीप', 'आनन्द कादम्बिनी', 'सदादर्श' 'भारतेन्दु' आदि हैं। उनका उद्देश्य उपदेश, उद्बोधन, आह्वान, व्याख्या, हास्य-व्यंग्य आदि के माध्यमों से जनता को शिक्षित और प्रबुद्ध बनाना था।

भारतेन्दु ने पुरातत्व, इतिहास, धर्म, कला, समाज-सुधार, जीवनी, यात्रा-वृत्तान्त, भाषा, साहित्य आदि अनेक विषयों पर निबन्ध लिखे हैं जिनमें से अनेक में व्यंग्य शैली का अद्भुत आकर्षण विद्यमान है। प्रताप नारायण मिश्र के लिए विषय की कोई सीमा नहीं है। 'धोखा', 'खुशामद', 'आप, बात', 'दाँत', 'भौं', 'नारी', 'मुच्छ', 'परीक्षा', 'ट', 'द', 'समझदार की मौत है', 'मनोयोग' आदि कई विषयों को लेकर उन्होंने अपनी मौज में सार्थक बातें कही हैं। बालकृष्ण भट्ट इस समय के सर्वाधिक समर्थ निबन्धकार हैं। उन्होंने सामयिक समस्याओं पर जमकर लिखा है। 'बाल विवाह', 'स्त्रियाँ और उनकी शिक्षा', 'राजा और प्रजा', 'कृषकों की दुरवस्था', 'अंग्रेजी शिक्षा और प्रकाश', 'हमारे नये सुशिक्षितों में परिवर्तन', 'देश-सेवा-महत्व', 'महिला स्वातन्त्र्य' आदि निबन्ध इस प्रकार के हैं। इनके अतिरिक्त मनोभावों तथा भाषा और साहित्य सम्बन्धी विषयों पर भी भट्ट जी ने विचार किया है। 'ईश्वर भी क्या ठठोल है', 'चली सो चली', 'देवताओं से हमारी बातचीत', 'नये तरह का जनून', 'खटका' आदि निबन्ध आत्मव्यंजना की प्रधानता के कारण अधिक आकर्षक बन पड़े हैं। प्रेमघन के निबन्ध भी अधिकतर सामयिक विषयों पर टिप्पणी के रूप में हैं।

द्विवेदी युग में महावीर प्रसाद द्विवेदी के साथ ही गोविन्दनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, माधवप्रसाद मिश्र, मिश्रबन्धु, सर्दार पूर्ण सिंह, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, श्यामसुन्दर दास, पद्मसिंह शर्मा, रामचन्द्र शुक्ल, कृष्णबिहारी मिश्र आदि निबन्ध-लेखन में अपनी दक्षता प्रदर्शन कर रहे थे। बालमुकुन्द गुप्त-कृत 'शिवशम्भु का चिट्ठा' उन दिनों काफी आदृत हुआ। तत्कालीन

गवर्नर जनरल लार्ड कर्जन को संबोधित कर उनके भारत-विरोधी कारनामों पर ओजपूर्ण एवं व्यंग्यात्मक शैली में प्रहार कर रहे थे। इन चिट्ठों के अतिरिक्त इन्होंने तत्कालीन साहित्यिक, राजनीतिक, भाषा-सम्बन्धी तथा राष्ट्रीय महत्त्व के अन्य प्रश्नों पर भी निर्भीकतापूर्वक लेखनी चलाई है। माधव प्रसाद मिश्र ने पर्वों-त्योहारों और भ्रमण वृत्तान्तों से सम्बन्धित बहुसंख्यक सजीव, रोचक और आत्मव्यंजक निबन्ध लिखे। नैतिक और सामाजिक विषयों से सम्बन्धित आवेगशील, व्यक्तित्व-व्यंजक लाक्षणिक शैली में निबन्ध रचना सरदार पूर्ण सिंह की विशेषता है।

चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' के पुरातात्विक एवं सांस्कृतिक संदर्भ इस प्रकार प्रस्तुत किये गये हैं जैसे वे घरेलू बातचीत के सामान्य विषय हों। गुलेरी जी की भाषा प्रौढ़, परिमार्जित और विषयानुकूल है। 'कछुवा धरम' और 'मारेसि मोहिं कुठांव' इनके बहुचर्चित निबन्ध हैं। पद्मसिंह शर्मा तुलनात्मक आलोचना के लिए प्रसिद्ध हैं। इस समूचे युग में सर्वश्रेष्ठ निबन्धकार होने का श्रेय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को है। वे हिन्दी निबन्ध-साहित्य के नये युग प्रवर्तक भी माने जाते हैं। शुक्लजी ने प्रतिपाद्य विषय से सम्बद्ध आनुषंगिक विषयों की चर्चा करके विचारों के कसाव को थोड़ा हल्का कर दिया है और व्यक्तित्व की झलक दिखा दी है। उनके 'भय', 'क्रोध', 'ईर्ष्या', 'घृणा', 'उत्साह', 'श्रद्धा-भक्ति', 'करुणा', 'लज्जा और ग्लानि', 'लोभ और प्रीति' आदि निबन्ध हिन्दी साहित्य को उनकी अनुपम देन है।

उपर्युक्त निबन्धकारों के अतिरिक्त इस युग में गणेश शंकर विद्यार्थी, नन्दन द्विवेदी, यशोदानन्दन अखौरी, केशवप्रसाद सिंह आदि कुछ अन्य निबन्धकारों ने भी अपनी शैली और प्रतिभा से अपनी अपनी पहचान बनाई है।

कुल मिलाकर निबन्ध में दो चीजों पर बल दिया जाता है - विषय और व्यक्ति। जहाँ निबन्ध व्यक्तिपरक हो उसे ललित निबन्ध भी कहा जाता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने व्यक्ति और ललित्य को प्रमुखता देकर जो निबन्ध लिखे हैं, उन्हें 'चिन्तामणि' भाग १ और २ में संकलित किया गया है। इनमें प्रौढ़ चिन्तन, सूक्ष्म विश्लेषण और तर्कपूर्ण सुसंबद्ध विवेचन का चरम आदर्श लक्षित होता है। ललित निबन्ध की दृष्टि से गुलाब राय के 'हल्लुआ क्लब', 'फिर निराशा क्यों', 'मेरी असफलताएँ' आदि संग्रहों में उनके कुछ श्रेष्ठ व्यक्तिगत निबन्ध संकलित हैं। 'मेरा मकान', 'मेरे नापितचार्य', 'मेरी दैनिकी का एक पृष्ठ', 'प्रीतिभोज' आदि ललित निबन्धों में राय साहब ने सर्वथा अनौपचारिक बातचीत की शैली में अपने व्यक्तिगत जीवन तथा आसपास की तुच्छ दीख पड़ने-वाली वस्तुओं के सम्बन्ध में भावपूर्ण उद्गार और चलती हुई प्रतिक्रियाएँ व्यक्त की हैं।

इसी समय पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने भी कतिपय व्यक्तिगत निबन्धों की रचना की है, जो 'पंचपात्र' में संगृहीत हैं। 'अतीत स्मृति', 'उत्सव', 'रामलाल पण्डित', 'श्रद्धांजलि के दो फूल' आदि निबन्धों में लेखक की भावुकता, आत्मीयता तथा व्यंग्यपूर्ण प्रतिक्रिया का सुन्दर समन्वय

मिलता है - कहीं कहीं अन्तर्कथाओं का प्रयोग भी उन्होंने सफलता के साथ किया है। इस काल के अन्य निबन्धकारों में शान्तिप्रिय द्विवेदी, शिव-पूजन सहाय, पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', रघुवीर सिंह और माखनलाल चतुर्वेदी के नाम लिये जा सकते हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के समीक्षात्मक निबन्धों की अगली कड़ी के रूप में आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। 'जयशंकर प्रसाद', 'आधुनिक साहित्य', 'नया साहित्य : नये प्रश्न' आदि में संकलित निबन्धों में उनकी सूक्ष्म पकड़, सन्तुलित दृष्टि, गत्यात्मकता और रचनात्मकता का परिचय मिलता है। छायावादोत्तर काल के सबसे महत्वपूर्ण निबन्धकार हैं आचार्य हजारी-प्रसाद द्विवेदी। उनके ललित निबन्धों में सांस्कृतिक विरासत के वर्चस्व के साथ नवीन जीवन-बोध, उत्कट जिजीविषा और नयी सामाजिक समस्याओं के बीच राह पाने की ललक सर्वत्र दिखायी पड़ती है। विद्वत्ता और सहृदयता का जो संयोग उनके निबन्धों में मिलता है, वह सामान्यत: विरल होता है। 'अशोक के फूल', 'विचार और वितर्क', 'कल्पलता', 'विचार-प्रवाह' और 'कुटज' उनके निबन्ध-संग्रह हैं जिनमें प्राय: समीक्षात्मक निबन्धों के साथ ही ललित निबन्ध भी संगृहीत हैं। इतिहास, पुराण, साहित्य आदि से गंभीर से गंभीर तथ्य उठाते हुए वे प्राय: उन्हें समसामयिकता से जोड़ देते हैं। अत: उनके निबन्ध न तो गंभीरता का लेवर छोड़ते हैं और न सहजता का बाना। उनकी सृजन-प्रक्रिया में पाण्डित्य और सहजता का जो तनाव मिलता है, उसे पकड़ पाने के लिए पाठकों को भी संदर्भों की जानकारी होनी चाहिए अन्यथा उनके निबन्धों के सौन्दर्य-बोध को समग्रत: आयत्त नहीं किया जा सकता। ललित निबन्धों के अतिरिक्त उन्होंने विचारपरक, शोध परक, और समीक्षात्मक निबन्ध भी लिखे हैं।

उपन्यास और कहानी की ही भाँति निबन्ध के क्षेत्र में भी जैनेन्द्र कुमार को अद्भुत सफलता मिली है। जैनेन्द्र की दार्शनिकता निजी है। और इसी निजीपन के कारण ही उनके निबन्ध ऊब पैदा नहीं करते। नई अर्थवत्ता के प्रति जागरूक रहने के साथ ही उन्होंने निबन्धों में सरसता का भी पूरा ध्यान रखा है। धर्म, राजनीति, संस्कृति, साहित्य, सेक्स, काम, प्रेम, विवाह आदि विषयों पर व्यक्त किये गये उनके विचारों से यह प्रतीत होता है कि वे अपने चतुर्दिक फैली हुई समस्याओं से निरन्तर जूझते रहे हैं। 'जड़ की बात', 'साहित्य का श्रेय और प्रेय', 'सोच-विचार', 'मन्थन', 'ये और वे', 'इस्तत:' आदि उनके निबन्ध-संग्रह हैं।

हिन्दी में समीक्षात्मक निबन्ध के अतिरिक्त साहित्येतर निबन्ध लिखनेवाले प्रभाववादी निबन्धकार शान्तिप्रिय द्विवेदी प्रकृति से तरल, आत्मनिष्ठ और भावुक साहित्यकार हैं। 'संचारिणी', 'युग और साहित्य', 'सामयिकी', 'धरातल',

'प्रतिष्ठान', 'साकल्य', 'आधान', 'वृन्त और विकास' आदि उनके प्रमुख निबन्ध-संग्रह हैं। रामधारी सिंह 'दिनकर' भी समय-समय पर महत्वपूर्ण निबन्ध लिखते रहे हैं। अधिकांश निबन्धों में उनका विचार पक्ष उभरकर आया है, पर कुछ ऐसे निबंध निबन्ध भी हैं जो उनके अन्तरंग को अधिक उद्घाटित करते हैं। 'अर्धनारीश्वर', 'मिट्टी की ओर', 'रेती के फूल', 'हमारी सांस्कृतिक एकता', 'प्रसाद, पंत और मैथिलीशरण', 'राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीय साहित्य' आदि उनके निबन्ध-संग्रह हैं। समीक्षात्मक निबन्ध-लेखकों में वैयक्तिकता का सर्वाधिक संस्पर्श डा० नगेन्द्र के निबन्धों में मिलता है। कवि-कल्पना और मनोवैज्ञानिक दृष्टि उनके व्यक्तित्व के अपरिहार्य अंग हैं। 'यौवन के द्वार पर', 'चेतना के बिम्ब' जैसे निबन्धों में व्यक्ति-व्यंजक निबन्धों की निर्बंधता और आत्मीयता आ गई है। 'आस्था के चरण' उनके निबन्धों का वृहत् संग्रह है।

'त्रिशंकु', 'आत्मनेपद', 'हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य', 'सबरंग', 'आलवाल', 'भवन्ति', 'लिखि कागद कोरे' आदि निबन्ध-संग्रहों के लेकर आते हैं सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय'। उनके निबन्ध वैयक्तिक सन्दर्भों में लिखे जाकर भी निवैयक्तिक आधुनिक संदर्भों की सृष्टि करते हैं। निजीपन उनकी विशेषता है। रामवृक्ष बेनीपुरी ललित निबन्धों के लिये लोकप्रिय माने जाते हैं। 'गेहूँ बनाम गुलाब', 'वन्दे वाणी विनायकौ' उनके दो निबन्ध-संग्रह हैं। श्रीराम शर्मा ने शिकार सम्बन्धी रोचक निबन्धों की रचना की है तो देवेन्द्र सत्यार्थी के निबन्धों में धरती की सोंधी गंध और लोक-जीवन की ताजगी मिलती है। भदन्त आनन्द कोसल्यायन के निबन्धों में घुमक्कड़ी जीवन की निर्बंधता मिलती है। वासुदेव शरण अग्रवाल ने जहाँ 'पृथ्वी पुत्र' एवं 'कला और संस्कृति' के निबन्धों में भारतीय संस्कृति के विविध आयामों को चित्रित किया, वहाँ यशपाल ने अपने निबन्धों में मार्क्सवादी दृष्टिकोण का परिचय दिया। 'चक्कर क्लब', 'देखा सोचा समझा', 'बात बात में बात', 'गाँधीवाद की शव-परीक्षा', 'न्याय का संघर्ष' आदि निबन्ध-संग्रहों में उसके उदाहरण हैं। गुलाब राय, बनारसी दास चतुर्वेदी, माखनलाल चतुर्वेदी, कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर, भगवत शरण उपाध्याय आदि कई चर्चित निबन्धकारों ने अपनी रचनाओं से इस विधा को समृद्ध बनाया है।

इधर समकालीन निबन्धकारों में प्रभाकर माचवे, विद्यानिवास मिश्र, धर्मवीर भारती, शिवप्रसाद सिंह, कुबेरनाथ राय, ठाकुरप्रसाद सिंह आदि के ललित-निबन्धों के संग्रह प्रकाशित हुए हैं। माचवे के 'खरगोश के सींग' में व्यंग्य की जगह विनोद अधिक है। विद्यानिवास मिश्र के 'छितवन की छाँह', 'तुम चन्दन हम पानी', 'आँगन का पंछी और बनजारा मन', 'मैंने सिल पहुँचाई', 'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' आदि में संगृहीत निबन्धों में भारतीय साहित्य और संस्कृति को लोक-जीवन से जोड़ने का उन्मुक्त प्रयास हुआ है। विद्यानिवास जी बड़ी ही गम्भीरता से पाण्डित्यपूर्ण निबन्ध लिखते हैं तो धर्मवीर भारती हल्के-फुल्के व्यंग्य-विनो

द्वारा दिखावेसी का पर्दाफाश करते हैं। 'ठेले पर हिमालय', 'कहनी अनकहनी', 'पश्यन्ति' आदि उनके निबन्ध-संग्रह हैं। शिवप्रसाद सिंह के 'शिखरों के सेतु'; कुबेरनाथ राय के 'प्रिया नीलकंठी', 'रस आखेटक', 'गन्धमादन' आदि हिन्दी निबन्ध-साहित्य को उनकी अनुपम देन है। इनके अतिरिक्त विवेकी राय, लक्ष्मीकान्त, केदारनाथ अग्रवाल, लक्ष्मीचन्द्र जैन आदि ने भी निबन्ध-रचना की दिशा में अपना अमूल्य योगदान दिया है।

हास्य-व्यंग्य लेखकों में बेढब बनारसी ने सबसे पहले निबन्धों के जरिए सामाजिक विसंगतियों पर चोट करना शुरू कर दिया। विनोद शर्मा के नाम से श्री नारायण चतुर्वेदी ने इस परम्परा को आगे बढ़ाया। फिर हरिशंकर परसाई, केशवचन्द्र वर्मा, लक्ष्मीकान्त वर्मा, भीमसेन त्यागी, रवीन्द्रनाथ त्यागी, शरद जोशी, नरेन्द्र कोहली आदि पर्याप्त मात्रा में व्यंग्य निबन्धों की रचना कर इसे एक अलग विधा बनाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। इस दिशा में हरिशंकर परसाई को अभूतपूर्व सफलता मिली। उनके व्यंग्य मुख्यतः राजनीतिक एवं सांस्कृतिक विसंगतियों के विरुद्ध वार करते हैं। परसाई की अन्तर्दृष्टि मानवीय करुणा के प्रति समर्पण है। इसलिए उनके निबन्ध हास्य की फुहड़ता की जगह व्यंग्य का तीव्र आघात करते हैं। 'भूत के पाँव', 'सदाचार की ताबीज' और 'निठल्ले की डायरी' उनके प्रतिनिधि निबन्ध-संग्रह हैं।

जीवनी

जीवनी किसी व्यक्ति के जीवन का प्रभावपूर्ण और क्रमबद्ध और धारावाहिक रूप से किया गया वर्णन है। देश-काल और परिस्थितियों का अंकन भी चरित नायक के जीवन की घटनाओं को पुष्ट रूप से प्रस्तुत करने के लिए आवश्यक होता है। इसमें चरित नायक के चरित्र का खुला वर्णन, उसके शारीरिक और बौद्धिक गुणों का परिचय, उसकी सफलताओं और असफलताओं का मनो-वैज्ञानिक विश्लेषण भी अपेक्षित है।

आधुनिक युग की अन्य गद्य विधाओं की भाँति जीवनी-साहित्य का आरम्भ भी भारतेन्दु-युग में ही हुआ। स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने विक्रम, कालिदास, रामानुज, जयदेव, सूरदास, शंकराचार्य, वल्लभाचार्य, मुगल बादशाहों, मुसलमान महापुरुषों तथा लॉर्ड रिपन आदि कई अंग्रेज शासकों की अनेक महत्वपूर्ण जीवनियाँ लिखीं जो 'चरितावली', 'बादशाह-दर्पण', 'उदय पुरोदय' और 'बूँदी का राजवंश' नामक ग्रंथों में संकलित हैं। विषयानुकूल तथा भावानुकूल भाषा-शैली के प्रयोग द्वारा व्यक्ति विशेष के जीवन-वृत्त का सशक्त अंकन उनकी जीवनी-साहित्य की प्रमुख विशेषता है। कार्तिक प्रसाद खत्री ने 'अहिल्याबाई', 'छत्रपति शिवाजी' और 'मीराबाई' के जीवन-चरित लिखे। राधाकृष्ण दास ने श्री नागरी दास जी के जीवन-चरित की रचना की। कुल मिलाकर भारतेन्दु युग में पर्याप्त मात्रा में जीवनियाँ लिखी गईं, पर वास्तविक अर्थ में उन्हें जीवनी न कहकर आख्यान कहना ही उचित होगा।

द्विवेदी युग में शिवनन्दन सहाय कृत हरिश्चन्द्र का जीवन-चरित, गोस्वामी तुलसी दास और चैतन्य महाप्रभु के जीवन-चरित उल्लेखनीय कृतियाँ हैं। लेकिन इनमें भी तटस्थता और निष्पक्षता का अभाव खटकता है। इस युग में दयानन्द सरस्वती, लोकमान्य तिलक, मदन मोहन मालवीय की जीवनियाँ लिखी गईं। विदेशी महापुरुषों में नेपोलियन बोनापार्ट, कर्नल टॉड आदि की जीवनियाँ महत्वपूर्ण हैं। ऐतिहासिक नारियों में 'नूरजहाँ', 'रानी दुर्गावती' आदि की जीवनियाँ भी लिखी गईं।

इसके बाद स्वतन्त्रता संग्राम के चलते राष्ट्रीय नेताओं की जीवनियाँ अधिक परिमाण में लिखी गईं। ईश्वरी प्रसाद शर्मा ने बाल गंगाधर तिलक की, रामनरेश त्रिपाठी ने गाँधीजी की एवं गणेश शंकर विद्यार्थी ने जवाहरलाल नेहरू की जीवनियाँ लिखीं। इस समय के निबन्धकार अत्यधिक आदर्शवादी प्रतीत होते हैं।

स्वातन्त्र्योत्तर युग का जीवनी-साहित्य ज्यादातर राजनीतिक व्यक्तियों से सम्बद्ध रहा है। लेकिन कुछ साहित्यिक व्यक्तियों की जीवनियाँ भी इसी समय

लिखी गईं जो हमारे साहित्य में बहुत महत्व रखती हैं। प्रेमचन्द के जीवन के संघर्षों को ईमानदारी से प्रस्तुत किया शिवरानी देवी ने 'प्रेमचन्द घर में' नामक ग्रंथ में। अमृत राय द्वारा रचित 'कलम का सिपाही' एक और विश्वसनीय जीवनी है, प्रेमचन्द की साहित्यिक समृद्धि और व्यक्तिगत अभाव को वस्तुनिष्ठता से दर्शाने की कोशिश में रचनाकार सफल रहा है। हिन्दी में जीवनी-साहित्य का एक और बलिष्ठ उदाहरण है रामविलास शर्मा-कृत 'निराला की साहित्य साधना'। इसमें निराला के स्वभाव, अनुभूति, साहित्य रचना, प्रखर व्यक्तित्व को एक साथ समेटने का प्रयत्न किया गया है। इनके अलावा डॉ. शान्ति जोशी द्वारा रचित 'सुमित्रानन्दन पंत: जीवन और साहित्य'; विष्णु प्रभाकर विरचित 'आवारा मसीहा'; विष्णुचन्द्र शर्मा कृत 'अग्नि सेतु'; रामकमल राय कृत 'शिखर से सागर तक' आदि ऐसे ही कई उत्कृष्ट जीवनी ग्रंथ हैं। इन तमाम जीवनी ग्रंथों में 'आवारा मसीहा' सर्वोत्कृष्ट माना जाता है। प्रसिद्ध बंगला कथाकार शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय की जीवनी को उनके जीवन की जानकारी हासिल करने के साथ साथ उनके भावलोक तक पहुँच कर जो विश्वस्त चित्र प्रस्तुत किया है विष्णु प्रभाकर ने, इसकी तुलना नहीं है। 'अग्नि सेतु' भी बंगला के क्रान्तिकारी कवि, काफी नजरुल इस्लाम के जीवन पर हिन्दी में रचित इकलौती जीवनी है। 'शिखर से सागर तक' महान प्रतिभा धर साहित्यकार अज्ञेय की जीवनी है। चन्द्रशेखर शुक्ल ने 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल: जीवन और कृतित्व' नामक जीवनी लिखकर कई घरेलू एवं साहित्यिक उपलब्धियों के पीछे निहित अनालोचित तथ्यों का खुलासा किया।

विभिन्न क्षेत्रों के प्रमुख व्यक्तियों के जीवन पर स्वतन्त्र ग्रंथ लिखने के साथ साथ एक ही कृति में अनेक महान आत्माओं के जीवन-वृत्त संकलित कर देने की प्रवृत्ति भी इस काल में पर्याप्त मात्रा में दृष्टिगोचर होती है। जैसे, श्याम जी पाराशर, रामनाथ 'सुमन', श्यामनारायण कपूर, राहुल सांकृत्यायन, हरिभाऊ उपाध्याय, ब्रह्मवती गौरव, शकुन्तला देवी वर्मा, हरिमोहन शर्मा, योगराज थानी, सुरेशचन्द्र गुप्त, ओमप्रकाश सिंहल आदि ने 'संत दर्शन', 'हमारे नेता और निर्माता', 'भारतीय वैज्ञानिक', 'नये भारत के नये निर्माता', 'विश्व की विभूतियाँ', 'महान भारतीय', 'राजस्थानी वीरांगनाएँ', 'भारतीय क्रिकेट के नवरत्न', 'भारत की महान आत्माएँ', 'भारत के प्रसिद्ध खिलाड़ी' तथा 'हमारे वैज्ञानिक' में इस प्रकार के जीवनीपरक निबन्धों को स्थान दिया है। ये जीवनियाँ तथ्यपरक तथा परिचयात्मक अधिक साहित्यिक, रुचिपूर्ण शैली सम्पन्न कम।

कुल मिलाकर, शिक्षा-सम्बन्धी, तथ्यपरक तथा व्यावसायिक दृष्टि से भी पर्याप्त मात्रा में निबन्ध लिखे जा रहे हैं, जिन्हें निबन्ध-साहित्य के अन्तर्गत स्थानित करना प्रासंगिक नहीं होगा। फिर भी साहित्यिक स्तरीय उन्नत रुचि की जीवनियाँ भी बीच बीच में प्रकाश में आती है, जो हमें किसी उपन्यास का आनन्द देती हैं।